शोध-चिंतन पत्रिका

विद्वानों द्वारा पुनरीक्षित ई शोध पत्रिका

ISSN: 2583-1860

वर्ष:6; अंक: 10-11; जुलाई-दिसंबर, 2025

संपादक

डॉ. रीतामणि वैश्य

http://shodhchintanpatrika.neglimpse.com/

शोध- चिंतन पत्रिका

विद्वानों द्वारा पुनरीक्षित ई शोध पत्रिका

संपादक

डॉ. रीतामणि वैश्य

E-ISSN: 2583-1860

वर्ष : 6 ; अंक: 10-11 ; जनवरी-दिसंबर, 2025

प्रकाशक : NEGLIMPSE

E-ISSN: 2583-1860

संपर्क सूत्र :

ई-मेइल : shodhchintan@gmail.com

मोबाइल नं. 8135054304

8486316810

9435116133

7002272818

संरक्षक

डॉ. किरण हाजरिका
अध्यक्ष, टेङाखात महाविद्यालय
डिब्रुगड़

डॉ. अमूल्य वर्मण
पूर्व विभागाध्यक्ष तथा सहयोगी प्राध्यापक
हिंदी विभाग, कॉटन कॉलेज

परामर्श मंडल

प्रो. मोहन
प्राध्यापक,हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

डॉ. नारायण चंद्र तालुकदार
पूर्व विभागाध्यक्ष तथा सहयोगी प्राध्यापक
हिंदी विभाग, कॉटन महाविद्यालय

डॉ. अच्युत शर्मा
भूतपूर्व सहयोगी प्राध्यापक
हिंदी विभाग, गौहाटी विश्वविद्यालय

प्रो. रवीन्द्रनाथ मिश्र
भूतपूर्व प्राध्यापक,हिन्दी विभाग
विश्व भारती विश्वविद्यालय

डॉ. पवन कुमार
सहायक प्राध्यापक
हिंदी विभाग, गवमेंट डिग्री कॉलेज ऑफ भैंसा

डॉ. माक्सीम देमचेन्को
सहयोगी प्राध्यापक, मॉस्को स्टेट लिंग्विस्टिक
यूनिवर्सिटी, मॉस्को (रूस)

प्रो. निरंजन कुमार
प्राध्यापक, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

डॉ. राहुल मिश्र
प्राध्यापक, हिंदी विभाग
केंद्रीय बौद्ध विद्या संस्थान (मानद विश्वविद्यालय)

डॉ. गोलोक चंद्र डेका
अतिथि प्राध्यापक
हिंदी विभाग, गौहाटी विश्वविद्यालय

डॉ. लेखा एम.
सहायक प्राध्यापक
हिंदी विभाग, एन एस एस हिंदू महाविद्यालय

संपादक

डॉ. रीतामणि वैश्य
सह आचार्य, हिंदी विभाग, गौहाटी विश्वविद्यालय, गुवाहाटी, असम
rita1@gauhati.ac.in
9101452787, 9435116133
Profile Link: https://www.gauhati.ac.in/academic/arts/hindi

संपादक मंडल

प्रो. जय कौशल
आचार्य, हिंदी विभाग
असम विश्वविद्यालय (दीफू परिसर), असम
jai.kaushal@aus.ac.in
9612091397

डॉ. मिलन रानी जमातिया
आचार्य, हिंदी विभाग
त्रिपुरा विश्वविद्यालय, सूर्यमणि नगर, अगरतला,
त्रिपुरा वेस्ट, 799022
milanrani08@tripurauniv.ac.in
8974009245

डॉ. चुकी भूटिया
सह आचार्य, हिंदी विभाग, काजीरोड,
सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक, सिक्किम,737102
cbhutia01@cus.ac.in
9064224852

प्रो. पूनम कुमारी
आचार्य,हिंदी / भारतीय भाषा केंद्र, जे. एन. यू.
punamkumari@mail.jnu.ac.in

डॉ. प्रीति वैश्य
सह आचार्य, हिंदी विभाग
प्रागज्योतिष महाविद्यालय, गुवाहाटी,
pritibaishya @pragiyotishcollege.ac.in
781009 9678885119

डॉ. फिल्मेका मारबानियांग
सह आचार्य
हिंदी विभाग, सेंट एन्थोनीज कॉलेज
शिलांग, मेघालय
fmarbaniang12@anthonys.ac.in
9436302106

डॉ जोरम बानिया ताना
सह आचार्य
हिंदी विभाग, देरानातुंग गवर्मेंट कॉलेज
इटानगर, अरुणाचल प्रदेश
aniya@dngc.ac.in
7005147047

संपादकीय

जन-मन की अभिलाषा

अभिलाषा प्राणीमात्र की जन्मजात प्रवृत्ति होती है। इन्हीं अभिलाषाओं के चलते जिंदगी आगे बढ़ती है। पाने न पाने का सुख-दुख जीवन का अभिन्न अंग होता है,पर अभिलाषा का कभी अंत नहीं होता है। अभिलाषा की परिधि मनुष्य विशेष पर निर्भर करता है। अपनी सोच और सामर्थ्य के आधार पर अभिलाषाओं की सीमा निर्धारित होती है।

पिछले वर्ष (सन् 2024 ई.) सम्पन्न हुए भारत की लोकसभा का चुनाव मानो भारतीय लोगों की अभिलाषा के बारे में बहुत कुछ कह गया।पिछले कुछ वर्षों में भारत सरकार ने भारतीय संविधान के द्वारा दिये गए मानव के अधिकारों-रोटी,कपड़ा और मकान को देने का प्रयास किया है। एक सौ चालीस करोड़ की आबादी के इस देश की गरीबी सीमा के नीचे रह रहे लोगों को जीने के अधिकारों के प्रति सजगता दिखाकर विविध राजनीतिक दलों ने चुनाव घोषणा पत्र में तरह-तरह की सुविधा देने का वचन दिया । आम जन को गरीबी सीमारेखा से ऊपर ले जाने के स्वप्न को वास्तव में तब्दील करने के प्रयास के रूप में केन्द्रीय सरकार की ओर से भारत के लाखों परिवारों के लिए आवास,शौचालय,घरेलू गैस आदि का प्रावधान किया गया ; दीदियों को लखपति दीदी बनाया गया ; व्यापार के लिए धन दिया गया; मुफ्त की शिक्षा; विद्यार्थियों के स्कूल ड्रेस, साइकिल, स्कूटी, कंप्यूटर आदि जो जनगण के जीवन स्तर को एक स्तर तक ले गया। इनके अलावा भी 'तलाक' जैसी प्रथा की समाप्ति कर मुसलमान महिलाओं के जीवन को भी सुरक्षा दी गयी । ऐसी उपलब्धियों से जन के मन में अभिलाषाओं की उड़ान और तेज हो गयी।

अभिलाषा कमल नाल की तरह होती है,बढ़ना तो जानती है,पर घटना नहीं जानती। खाद्य, आवास आदि प्राप्त सुविधाएँ उनके अधिकार के साथ स्वभाव का भी हिस्सा बन गईं। आज देश में

जो आर्थिक रूप से सम्पन्न लोग हैं, वे हर साल कर के रूप में सरकार को अच्छी रकम अदा करते हैं। इसके विपरीत आर्थिक दुरावस्था के कारण ही देश की अधिकांश जनता को सरकारी सुविधाएँ मिल रही हैं। पिछले लोकसभा चुनाव में साधारण जन का ध्यान देश की सुरक्षा,विकास,रक्षा,वैदेशिक संबंध आदि विषयों पर न जाकर मासिक धन की गारंटी पर पड़ी,जिसका प्रमाण देश के मतदातओं ने चुनाव परिणाम के तुरंत बाद धन लाने की भीड़ लगाकर दिखा दिया। इस देश के जन के मन में मुफ्त के धन की अपार अभिलाषा ने चुनाव के परिणाम पर बड़ा प्रभाव डाला है।

भारत रत्न अटल बिहारी बाजपेयी ने कहा था कि देश की जनता को शिक्षा और स्वास्थ्य के सिवा कुछ भी चीजें मुफ्त में नहीं दी जानी चाहिए,इससे उसका स्वभाव बिगड़ता है। क्या इसी की छवि इस चुनाव में देखी गयी है? लोग अपने अधिकारों के प्रति बड़े सजग हैं,अच्छी बात है,होना ही चाहिए। पर एक ही समय वे अपनी जिम्मेदारियों को लेकर उपेक्षा की भावना रखते हैं। अधिकार और ज़िम्मेदारी को एक दूसरे से अनिवार्य रूप से जुड़े रखने की जरूरत है। प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ सामर्थ्य होता है। सरकारी सुविधाओं के बदले में उनसे सरकार को अपने सामर्थ्य के अनुरूप देश के लिए कुछ न कुछ सेवा उपलब्ध करवाने के विषय पर गंभीरता से सोच-विचार करने की जरूरत है। देश की सामग्रिक प्रगति के लिए हर स्तर के लोगों का सहयोग आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। जब परिवार का एक भाई उपार्जन करता है और दूसरा नहीं , तब परिवार में अशांति का वातावरण पनपता है और परिवार के विघटन की नींव पड़ती है। भारतवर्ष में सदियों से चले आये संयुक्त परिवार के टूटने के प्रमुख कारणों में आर्थिक उपार्जन के वैषम्य भी रहा है। अब हमारे देश में हितधारकों की संख्या बढ़ती आबादी की गति के साथ तेजी से बढ़ रही है। जो लोग कड़ी मेहनत करते हैं उनके कर के पैसों से उन लोगों के जीवन की आवश्यकताओं का निदान हो रहा है, जो श्रम नहीं करते या श्रम करने की क्षमता और कौशल नहीं रखते। इससे करदाताओं के मन में एक

असंतुष्टि का भाव भी पैदा होता है। कई तीस प्रतिशत तक इसीलिए कर देता है क्यों कि वह अच्छी तरह से उपार्जन करने में सक्षम है।

आखिर कब तक सरकारें मुफ्त में इन लोगों को ये तमाम सुविधाएँ देती रहेंगी यह विचारणीय प्रश्न है। आर्थिक रूप से समृद्ध व्यक्ति को अपने उपार्जन का लगभग एक तिहाई देशहित में देना पड़ता है, तो आर्थिक रूप से कमजोर व्यक्ति भी देश के लिए कुछ तो अवश्य करे, चाहे वह न्यूनतम ही क्यों न हो। क्योंकि उन्हें भी देश के नागरिक होने के नाते तमाम सुविधाएँ मिलती हैं। देश की प्रगति एक वर्ग विशेष की ज़िम्मेदारी नहीं हो सकती। इस महान यज्ञ में सबके सहयोग की आवश्यकता है। वैयक्तिक अभिलाषाओं के अतिरिक्त एक अभिलाषा देश के लिए भी हो कि इस महान देश को महानतम बनाने में हम सब का साथ हो।

डॉ. रीतामणि वैश्य

संपादक

शोध-चिंतन पत्रिका

वर्ष:5; अंक: 9; जुलाई-दिसंबर,2024

इस अंक में

	आलेख	नाम	पृष्ठ संख्या
1	अंधविश्वास और यशपाल की कहानियाँ	डॉ. ऋषिकेश श्रीवास्तव	1-10
2	गद्दी जनजाति की आर्थिक एवं कृषि नीति	डॉ. रवि कुमार गोंड़ डॉ. भरत सिंह	11-24
3	समकालीन हिन्दी कविता और नारी	डॉ. कल्पना साईकिया	25-36
4	हरिशंकर परसाई के व्यंग्य में युगबोध	डॉ. दीक्षा गुप्ता	37-50
5	'1966 मिज़ोरम ङिहल्ह हर कन तुआर' उपन्यास में मिज़ो विद्रोह की पृष्ठभूमि	जूदिथ ज़ोपरी	51-61
6	विजयदान देथा की कहानियों में लोक जीवन	कोमल मीणा प्रो. विपुल कुमार	62-70
7	शरतचन्द्र की नारी दृष्टि और 'चरित्रहीन'	सोनिया कुमारी प्रसाद	71-94

शोध-चिंतन पत्रिका: विद्वानों द्वारा पुनरीक्षित ई शोध पत्रिका
वर्ष : 6 ; अंक: 10-11 ; जनवरी-दिसंबर, 2025; पृष्ठ संख्या : 01-10

अंधविश्वास और यशपाल की कहानियाँ

डॉ. ऋषिकेश श्रीवास्तव

शोध-सार :

अंधविश्वास एक ऐसी कुरीति है, जिसका खामियाजा समाज को भुगतना पड़ता है। कमोबेश, अंधविश्वास प्रत्येक समाज और समुदाय में पाया जाता है, जिसकी जड़ें बहुत गहरी हैं। इसलिए यह किसी एक राष्ट्र या समाज विशेष से सम्बंधित नहीं है, इसका स्वरूप अलग-अलग प्रांतों में भिन्न-भिन्न हो सकता है। समाज में विश्वास जितना महत्वपूर्ण है, वहीं अंधविश्वास उतना ही घातक। जब विश्वास आवश्यकता से अधिक हो जाता है, तो वही अंधविश्वास में परिणत हो जाता है। अशिक्षा, अज्ञानता, अपरिपक्वता, अनजानापन, तर्कहीनता अंधविश्वास के लिए दायी हैं किंतु, इसका यह अर्थ नहीं है कि शिक्षित समाज में अंधविश्वास नहीं होता है। व्यक्ति जब तर्कहीन होकर किसी भी मान्यता या परम्परा को मानने और उसका जीवन में व्यवहार करने लगे, तब वह अंधविश्वास के घेरे में आ जाता है। अंधविश्वास शिक्षित वर्गों में भी काफी प्रचलित है जो शोचनीय है, जनता बाहर से कैसी ही प्रगतिशील क्यों न बन जाये, उसके भीतर अंधविश्वास और अंध-पूजा की भावना बराबर बनी रहती है। लेनिन ने कभी नहीं चाहा कि उसकी पूजा हो, किन्तु उसके जीवन-काल में ही रूस की जनता उसे अवतार के रूप में पूजने लगी थी और उसकी कब्र के ऊपर वार्षिक उत्सव मनाया जाने लगा।

बीज-शब्द : *अंधविश्वास, अपरिपक्वता, तर्कहीन, सोचनीय, प्रगतिशील, घातक*

प्रस्तावना :

समाज के लिए अंधविश्वास बहुत बड़ी समस्या है। निरक्षर समाज के लिए यह किसी अभिशाप से कम नहीं है। अज्ञानता के कारण लोग निराधार बातों पर विश्वास कर लेते हैं, जो अंधविश्वास का कारण बनता है, किन्तु भारतीय समाज में अंधविश्वास परम्परा के रूप में अपनाया जाता रहा है। जादू-टोना, झाड़-फूंक, तंत्र-मंत्र आदि का कोई वैज्ञानिक प्रमाण न होने के बावजूद भारतीय समाज में लोग इसे परम्परा से मानते रहे हैं। अंधविश्वास सामाजिक उन्नति में बाधक है। यह समाज को उन्नतिशील बनने से रोकता है। कई परिस्थितियों में अंधविश्वास व्यक्ति के लिए घातक सिद्ध होता है। इन्हीं कारणों से यशपाल ने अंधविश्वास का विरोध किया है। कहा जा सकता है कि यशपाल ने कबीर की परम्परा को आगे बढ़ाया है। यशपाल सामाजिक कथाकार हैं, इसलिए उनसे समाज की यह विसंगति छूट नहीं सकती। वे अपनी विभिन्न कहानियों के माध्यम से समाज को अंधविश्वास के बारे में जागरूक कर उसे प्रगतिशील सोच देने का प्रयास करते रहते हैं। अंधविश्वास लोक के मन से जुड़ा है, जिसका खंडन करना आसान नहीं । फिर भी यशपाल ने इस चुनौती पूर्ण काम को अंजाम दिया।

विश्लेषण :

अंधविश्वास एक ऐसी कुरीति है, जिसका खामियाजा व्यक्ति,परिवार सहित समाज को भी भुगतना पड़ता है। यह कमोबेश, अंधविश्वास प्रत्येक समाज और समुदाय में पाया जाता है, जिसकी जड़ें बहुत गहरी हैं। इसलिए यह किसी एक राष्ट्र या समाज विशेष से सम्बंधित नहीं है, इसके स्वरूप अलग-अलग प्रांतों में भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। समाज में विश्वास जितना महत्वपूर्ण है, वहीं अंधविश्वास उतना ही घातक। जहाँ इसके शाब्दिक रूप में बहुत अधिक अंतर नहीं है, वहीं इसके अर्थगत प्रारूप में भी अधिक पार्थक्य नहीं है। कहने का तात्पर्य यह कि जब विश्वास आवश्यकता से अधिक हो जाता है, तो वही अंधविश्वास में परिणत हो जाता है। अंधविश्वास की उत्पत्ति में अशिक्षा, अज्ञानता, अपरिपक्वता, अनजानापन, तर्कहीनता आदि का महत्वपूर्ण योगदान है। व्यक्ति जब तर्कहीन होकर किसी भी मान्यता या परम्परा को मानने और उसका जीवन में व्यवहार करने

लगे, तब वह अंधविश्वास के घेरे में आ जाता है। अंधविश्वास पर विश्वास करने वालों में न केवल अशिक्षित एवं गरीब होते हैं बल्कि यह शिक्षित वर्गों में भी काफी प्रचलित है, जो कि दुर्भाग्यपूर्ण होने के साथ-साथ शोचनीय है –

> जनता बाहर से कैसी ही प्रगतिशील क्यों न बन जाये, उसके भीतर अंधविश्वास और अंध-पूजा की भावना बराबर बनी रहती है। (जोशी 1940:2)

लेनिन ने कभी नहीं चाहा था कि उसकी पूजा हो, पर उसके जीवन-काल में ही रूस की जनता उसे अवतार के रूप में पूजने लगी थी और उसकी कब्र के ऊपर वार्षिक उत्सव मनाए जाने लगे थे।

भारतीय समाज में अंधविश्वासों की भरमार है, जिसका बुरा प्रभाव सामाजिक सद्भावना और समरसता पर पड़ता है। इसके कारण हमारी सामाजिक उन्नति बाधित होती है। अंधविश्वास मूलतः हमारे भय, निराशा, निर्बलता एवं अज्ञानता को ही दर्शाता है। वस्तुतः व्यक्ति जब किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पाता है या किसी समस्या का समाधान नहीं कर पाता है, तब वह दैवीय शक्ति की ओर मुड़ता है और उसमें विश्वास करने लगता है। वह उसका समाधान प्राकृतिक या अप्राकृतिक किसी रूप में चाहता है और यदि किसी संयोगवश उस समस्या का समाधान किसी कर्म-काण्ड के कारण हो जाता है, तो उसका विश्वास अंधविश्वास में परिणत हो जाता है। व्यक्ति अंधविश्वास के मोहपाश में फँसता चला जाता है और अंततः अंधविश्वासी बन जाता है। भय के कारण मनुष्य देवी-देवताओं के होने पर विश्वास करने लगता है। मन की पुकार देवी के भय से प्रबल होती जाती है। आज के वैज्ञानिक युग में भी मनुष्य अंधविश्वास से बच नहीं पाया है। हमें इन कारणों की तलाश करनी चाहिए, आखिर वे ऐसे कौन से कारण है जिसके चलते व्यक्ति अंधविश्वास की गिरफ्त में आने से नहीं बच पाता है। शिक्षित व्यक्ति भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अंधविश्वास से ग्रसित हैं। इस सामाजिक बुराई को यशपाल ने अपनी कहानियों में रेखांकित किया है। एक मार्कसवादी कथाकार होने के कारण, वे अपनी कहानियों में अंधविश्वास पर कुठाराघात करते नज़र आते हैं।

अंधविश्वास वर्तमान समाज में मौजूद एक बहुत बड़ी चुनौती है, जिसके प्रति लोगों को जागरूक कर उसे समाप्त करना आवश्यक है । इसलिए यशपाल की अंधविश्वास से सम्बंधित कहानियाँ आज के समय में भी प्रासंगिक हैं। अंधविश्वास को जड़ से खत्म करना यशपाल की कहानी लेखन के उद्देश्य में शामिल था। अंधविश्वास को समाप्त करने के लिए उन्होंने व्यंग्य का भी सहारा लिया। यशपाल ने कहानियों में मनुष्य जीवन की विडम्बनाओं, अंतर विरोधों तथा बाह्य आडम्बारों को वर्णित किया है जो अंधविश्वास की ही पहलू है; अधिकांश व्यक्ति अंधविश्वास के प्रभाव में आकर ही आडम्बरपूर्ण व्यवहार करने लगते हैं। यशपाल यज्ञ को रूढ़ि मानते हैं; इसलिए उन्होंने 'मनु की लगाम' कहानी के माध्यम से इस पर कटाक्ष किया है –

> आदमी मनु की लगाम पहन लेने से बड़ा हो जाता है तो ब्राह्मण, ठाकुर, अंग्रेज से बड़े क्यों नहीं हो गये? (यशपाल 1950:32)

सामाजिक रूढ़ियों एवं धार्मिक धारणाओं पर उन्होंने अपने लेखन से प्रहार किया है। क्योंकि समाज में प्रचलित रूढ़ियाँ ही आगे चल कर अंधविश्वास का रूप धारण कर लेती हैं। धर्म के नाम से कितने ही कुकृत्य मनुष्य करता आ रहा है। अतः धार्मिक रंग में रंगे तथा अंधविश्वास को बढ़ावा देने वाले पण्डितों, पुजारियों, ज्योतिषियों तथा मुल्ला-मौलवियों के चरित्र को यशपाल कहानियों में उद्घाटित करते हुए दिखाई देते हैं। समाज में अंधविश्वास इतना बढ़ गया है कि मनुष्य की तुलना ईश्वर या खुदा से कर दी जाती है, 'तुम्हारी और खुदा या ईश्वर की सूरत में थोड़ा सा ही फर्क है या कोई फर्क ही नहीं', इस तरह के जुमले आम हैं। अंधविश्वास किसी जाति या धर्म विशेष के लोगों में ही नहीं पाया जाता, बल्कि इसकी व्याप्ति कमोबेश सभी जातियों एवं धर्म को मानने वालों में है। मुस्लिम समाज में अंधविश्वास भरे पड़े हैं। यशपाल ने मुस्लिम समाज के अंधविश्वास को 'जादू के चावल' कहानी में चित्रित किया है –

> उस चुड़ैल पर कहर गिराने के लिए मेहर ने अन्ना की मदद से पीर-फकीरों से गण्डे-ताबीज लेने शुरू किये। (यशपाल 1943:117)

मनुष्य का अकर्मठ होने का कारण उसका भाग्यवादी होना है और भाग्यवादिता अंधविश्वास का ही परिणाम है। वह कर्म करने के स्थान पर भाग्य के बदलने की आश में बैठा रहता है। वह अपनी असफलताओं के लिए स्वयं को दोष न देकर यह दोष भाग्य के सिर मढ़ देता है और तो और वह कर्म न कर के जादू-टोना, जंतर-मंतर के माध्यम से अपने भाग्य को ठीक करने के फेर में फँसता चला जाता है। यशपाल ने मनुष्य की इस प्रवृत्ति को 'तूफान का दैत्य' कहानी के द्वारा अभिव्यक्त करते है –

> मनुष्य की शक्ति और पहुँच जिस सीमा से आगे नहीं जा पाती, वहीं से भगवान और देवताओं का राज्य आरम्भ हो जाता है। (यशपाल 2010:56)

इस प्रकार यशपाल ने समाज में घटित घटनाओं और लोगों में आये परिवर्तन को कहानियों के माध्यम से चरितार्थ किया है। वे लोगों को भाग्यवादी होने के स्थान पर कर्मवाद की ओर ले जाना चाहते थे, इसलिए समाज में जागरूकता फैलाने के लिए जादू-टोना, जंतर-मंतर जैसी कुरीतियों को अपने लेखन का विषय बनाया है। अंधविश्वास पर प्रहार करना उनकी सामाजिक चेतना का परिणाम था। सामाजिक जीवन की सभी जटिल समस्याओं से आधुनिक साहित्यकार का सीधा सम्बंध होता है, जिसका प्रभाव हमें यशपाल पर भी देखने को मिलता है। वे एक सामाजिक कहानीकार थे, अतः प्रेमचंद के बाद यशपाल ऐसे सशक्त कहानीकार हुए जिन्होंने प्रेमचंद की परंपरा को आगे बढ़ाया और अंधविश्वास जैसी सामाजिक विभीषिका को अपनी कहानियों में उद्घाटित किया।

साम्प्रदायिक द्वेष को बढ़ाने में अंधविश्वास का बहुत प्रभाव है। यशपाल का यह मानना है कि अंधविश्वास के कारण ही समाज में साम्प्रदायिक द्वेष बढ़ते हैं। 'खुदा और खुदा की लड़ाई' कहानी में उन्होंने इसी ओर हमारा ध्यान खींचा है। इसमें नसरू मुस्लिम है और मूला ताई हिन्दू है । देश विभाजन के समय नसरू धार्मिक अंधविश्वास के कारण मूला ताई की हत्या कर देता है। अंधविश्वास के कारण समाज में विभिन्न संप्रदायों के बीच दंगे होते रहते हैं। इस कारण से सांप्रदायिकता भारत में एक आम घटना हो गयी थी। यशपाल ने कहानियों के माध्यम से यह रेखांकित करने की कोशिश की है कि अंधविश्वास मनुष्य के भौतिक विकास के साथ-साथ

आध्यात्मिक विकास में भी बाधक होता है। अंधविश्वास के अधीन हो कर मनुष्य कर्म योगी न रह कर भाग्यवादी हो जाता है, जिससे उसका भौतिक विकास अवरूद्ध हो जाता है। अंधविश्वास के कारण वह धार्मिक आडम्बर में फँस कर ईश्वर के नजदीक पहुँचने के स्थान पर वह उससे और दूर चला जाता है, जिससे उसका आध्यात्मिक पतन होता है। यशपाल 'पीर की मजार' में लिखते हैं –

> वेरी वाले की दुआ से जहागुल के बदन के भीतर के दोनों जिन्न घबराने लगें। जिन्न तो भाग गये परन्तु जाते जाते जहान को ऐसा धक्का दे गये कि उसका सिर हर दम घुन्नाने लगा और कानों में साँय-साँय होने लगी। (यशपाल 2010:69)

आज भी लोग ओझों और मुल्ला-मौलवियों के झांसे में आकर धन और समय दोनों बर्बाद करते हैं। अंधविश्वास के वशीभूत हो कर हमें यह भी ध्यान नहीं रहता की क्या सही है और क्या गलत। 'दु:ख का अधिकार' कहानी में यशपाल इसी संदर्भ को उठाते हुए लिखते हैं –

> लड़के की बुढ़िया माँ बावली होकर ओझा को बुला लायी। झाड़ना-फूँकना हुआ। नाग देव की पूजा हुई। पूजा के लिए दान-दक्षिणा चाहिये। घर में जो कुछ आटा और अनाज था; दान-दक्षिणा में उठ गया। (यशपाल 1944:54)

उनकी कहानियाँ मात्र अंधविश्वास का विरोध ही नहीं करती, अपितु उसके मूल कारणों और स्रोतों को उद्घाटित भी करती हैं। समाज को विकासशील बनने में बाधक तत्वों का खात्मा करने की जिजीविषा इनके कथा संसार का मूल ध्येय है। धार्मिक अंधविश्वास ही सती-प्रथा के मूल में है, जिसके कारण स्त्रियों को उनकी अनिच्छा पर भी उन्हें पति के साथ मरने के लिए विवश किया जाने लगा था । पत्नी, पति की चिता के साथ जल कर नहीं मरती थी तो इसके लिए तरह-तरह की कहानियाँ गढ़ ली जाती थी, जिससे विवश हो कर पत्नी को आत्मदाह करना ही पड़ता था। अतः यह कहा जा सकता है कि यशपाल ने समस्या की जड़ पर प्रहार किया है। यशपाल ने अतीत की इस प्रथा को घृणा की दृष्टि से देखा है। कहानी 'पहाड़ का छल' में चम्बा के वृद्ध राजा के शव के साथ उसकी सभी रानियों को बरबस जला देने का ऐसा मर्मांतक दृश्य रचा है –

> कुछ रानियाँ गुमसुम हो घुटनों पर सिर रखे भय से काँप रही हैं और एक अठारह वर्ष की अत्यंत सुन्दर रानी बेबस हो फफक-फफक कर रो रही है। (यशपाल 2002:112)

इस कहानी के पठन के उपरांत, अंधविश्वास की इस प्रथा को जड़ से उखाड़ फेंकने का भाव मन में घर कर जाता है।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि अंधविश्वास के दो रूप होते हैं-एक सामाजिक और दूसरा धार्मिक। जैसा कि नाम से स्पष्ट है कि एक का आधार समाज है तो दूसरे का धर्म। धार्मिक कर्मकाण्डों और आडंबरों ने भारतीय समाज को ऐसे बंधनों में बांध दिया है, जिसमें अंधविश्वास पनपता है। यह माना हुआ सत्य है कि स्त्रियाँ अंधविश्वास की ओर अधिक अग्रसरित होती हैं। सर्वे में भी इस बात का खुलासा हुआ है कि इस प्रकार के कार्यों में स्त्रियाँ ज्यादा संलिप्त होती हैं। ताबीज बांधना, मजार पर जाकर मन्नौतियाँ माँगना, जादू-टोना आदि रूढ़ियाँ मुस्लिम महिलाओं के अंधविश्वास के प्रमाण हैं। अतः यशपाल ने अंधविश्वास का विस्तार पूर्वक चित्रण अपनी कहानियों में किया है। अंधविश्वास को उन्होंने 'जादू का चावल', 'पीर का मजार', 'दुःख का अधिकार', 'मनु का लगाम', 'करवा का व्रत' आदि कहानियों में सफलता पूर्वक उद्घाटित किया है। इन कहानियों के माध्यम से यशपाल समाज में व्याप्त अंधविश्वास की कुरीति के वास्तविक चित्रण पर जोर देते हैं। यशपाल का मानना है कि जब तक इस प्रकार की मान्यताएँ समाज में रहेंगी, तब तक समाज का वास्तविक विकास नहीं हो सकता है। इसलिए यशपाल ने कर्मकांड को भी मार्कसवादी दर्शन के आधार पर व्याख्यायित किया है। उन्होंने स्वीकारा था कि भौतिक परिस्थितियाँ सामाजिक आदर्शों व मान्यताओं का निर्माण करती हैं।

अंधविश्वास के कारण मनुष्य का नैतिक पतन भी होता है। उसमें सोचने समझने की शक्ति का ह्रास होने लगता है। यशपाल व्यक्ति को जीवन के प्रति नया और प्रगतिशील दृष्टिकोण देना चाहते थे, इसलिए उन्होंने अंधविश्वास के दुष्प्रभावों का यथार्थ चित्रण कहानियों में किया है। यशपाल ने समाज-उत्थान के कार्य में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उन्होंने अपनी कहानियों के माध्यम से ईश्वर, परलोक, पुनर्जन्म, मनौती आदि दैवी क्रियाओं को झूठा सिद्ध कर समाज द्वारा

वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने पर बल दिया है। उन्होंने जनता के हितों का विरोध करने वाले सभी परंपरागत अंधविश्वासों का बढ़-चढ़ कर विरोध किया है। निःसंदेह सामाजिक अंधविश्वासों की अपेक्षा धार्मिक अंधविश्वासों की नींव अधिक गहराई तक मजबूती के साथ फैली होती है। अतः उन्होंने धार्मिक अंधविश्वासों का अपेक्षाकृत अधिक उपहास किया है। अंधविश्वास विभेदों का पोषक है और मानवता का शत्रु भी है। उनकी कहानियाँ जीर्ण आस्थाओं और अज्ञानपूर्ण विश्वासों पर ही आघात करती हैं। उनकी कहानी 'परलोक' भारतवासियों के अध्यात्म चिंतन पर व्यंग्य करने वाली कहानी है।

'देवी की लीला' कहानी में यशपाल ने अंधविश्वासी व्यक्तियों की सोच पर व्यंग्य किया है। देवीलाल कार्यालय और घर के बीच की दूरी को देख कर साइकिल खरीदता है। लेकिन पान की दुकान पर साइकिल भूल जाता है। याद आने पर देवी की मनौती करता हुआ पान की दुकान पर पहुँचा तो साइकिल मिल जाती है और उसे देवी की कृपा मानकर मनौती पूरा करने मंदिर पहुँचता है, जहां से साइकिल कोई और उठाकर जा चूका होता है। इस पर उसे देवी के प्रति होने वाली श्रद्धा फिजूल जान पड़ती है और वह देवी का अपमान करता है। उधर पड़ोसी इस घटना को लीला मानकर उसका ढ़ाँढ़स बंधाते हैं। यशपाल धर्म, ईश्वर, कर्मकाण्ड, आडम्बर की कोरी खोखली मान्यताओं से परिचित हैं, इसलिए इन सब के विरोधी हैं। उन्हें ऐसे अंधविश्वास में शोषण की बू आती है। कुछ कहानियों का बाहरी कलेवर धार्मिक लगता है लेकिन अंदर से अंधविश्वास के आधार पर खड़ी मिथ्या आस्था पर कुठाराघात किया है। 'मन की पुकार' कहानी में यशपाल स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि यह हमारा अंधविश्वास ही है, जो प्रत्येक कार्य की सफलता-असफलता को ईश्वर की इच्छा-अनिच्छा का परिणाम मान लेते हैं। धर्म का अस्तित्व अंधविश्वास पर आधारित है। 'खुदा और खुदा की लड़ाई' में धार्मिक अंधविश्वास के कारण कत्लेआम हुआ, मासूम बूढ़ी का खून कर दिया गया।

अंधविश्वास पर प्रहार करती यशपाल की एक और कहानी है 'करवा का व्रत' जिसमें कन्हैयालाल के विवाह के समय नक्षत्रों का ऐसा योग होता है कि उसके ससुराल वाले लड़की की

बिदाई के लिए तैयार नहीं होते। नक्षत्रों के अनुकूल हो जाने के बाद कन्हैयालाल पत्नी लाजवंती को घर ले आता है, लेकिन उसके साथ ऐसा व्यवहार करता है कि बेचारी यही सोचकर संतोष कर लेती है- किस्मत में यही है तो क्या हो सकता है। 'नारद परशुराम संवाद' कहानी में भी यशपाल अंधविश्वास पर चुटकी लेते हुए परशुराम से कहलवा देते हैं, महात्मा लोग मर्त्यलोक में देवों की सत्ता को अक्षुण्ण बनाए रखते हैं। वे अंधविश्वास के बल से मनुष्य को कभी आत्मनिर्णय का अवसर नहीं पाने देंगे।

निष्कर्ष :

अंधविश्वास मात्र मनुष्य के अज्ञान का सूचक और सामाजिक विसंगतियों का कारण है। यशपाल ने अंधविश्वास के स्वरूप, कारण और प्रभाव को कहानियों में रेखांकित करने में सफलता प्राप्त की है।

संदर्भ-सूची :

जोशी, इलाचंद्र. प्रेत और छाया . इलाहाबाद : भारती भंडार, 1940 .

यशपाल. ज्ञानदान . इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 1944 .

—. तर्क का तूफान . इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 1943 .

—. धर्मयुद्ध . इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 1950 .

—. पिंजरे की उड़ान . इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 2010 .

—. भस्मावृत्त चिंगारी . इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 2002 .

—. वो दुनिया . इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 2010 .

—. सच बोलने की भूल . इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 2010 .

****

संपर्क-सूत्र :

डॉ. ऋषिकेश श्रीवास्तव

सांता डंगाल

बर्णपुर, पश्चिम बर्द्धमान

713325 (पश्चिम बंगाल)

दूरभाष – 9851667716

शोध-चिंतन पत्रिका: विद्वानों द्वारा पुनरीक्षित ई शोध पत्रिका
वर्ष : 6 ; अंक: 10-11 ; जनवरी-दिसंबर,2025; पृष्ठ संख्या : 11-24

गद्दी जनजाति की आर्थिक एवं कृषि नीति

डॉ. रवि कुमार गोंड़
डॉ. भरत सिंह

शोध-सार :

हिमाचल प्रदेश की गद्दी जनजाति का इतिहास प्राचीन है। इस जनजाति का परिचय अष्टाध्यायी 4/2/82, पाणिनी अष्टाध्यायी (600-700 ई.) के पूर्व में आता है और साथ ही राजतरंगिणी (कल्हण), 'एग्लोसरीऑफ द ट्राईब्ज एण्ड कास्ट्स' (एच.ए.रोज़, 1911), 'हिस्ट्री ऑफ पंजाब हिल्ज़ स्टेट' (जे. हिचिंस्र एंड वोगल, 1994), 'चंबा गजेटियर' (1904), भारतीय जनगणना (1901), चुराह क्षेत्र के शिलालेख (1905) आदि में भी गद्दी जनजाति की ऐतिहासिकता को देखा जा सकता है। गद्दी जनजाति के लोग आज भी अपनी प्राचीन सांस्कृतिक विरासत, परंपराओं एवं आर्थिक व्यवस्था को बचाने में सफल रहे हैं। वे कृषि योग्य पर्वतीय भूमि में राजमाह, माह और चने की दाल आदि की खेती करते हैं साथ ही भेड़-बकरियों का पालन करते हुये अपनी आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाते हैं। पहाड़ों के कठिनतम रास्तों से गुजरते हुए और तमाम कठिनाइयों से संघर्ष करते हुए गद्दी जनजाति के लोग अपनी आर्थिक व्यवस्था को मजबूती प्रदान करते हैं। आज वह शिक्षा के प्रत्येक में सफल है और सरल, सहज और उदात्त जीवन जीने के लिए यह विश्व भर में प्रसिद्ध है।

बीजशब्द : *जनजातीय समुदाय, अनुसूचित जनजाति, गद्देरण, गद्दी, गद्दियाली, सिंहासन, सांस्कृतिक विरासत, परंपरा, संस्कृति, खेतीबाड़ी, आर्थिक व्यवस्था*

प्रस्तावना :

हिमाचल प्रदेश का चम्बा जिला, भारत में ही नहीं अपितु पूरे विश्व में प्राकृतिक सौंदर्य के लिए प्रसिद्ध है। यह एक जनजातीय क्षेत्र है। चम्बा जिला के भरमौर क्षेत्र में रहने वाली गद्दी जनजाति के लोग अपनी लोकधर्मिता, संस्कृति एवं परंपराओं के लिए बहुचर्चित हैं। ये लोग अपने रंग,कद-काठी, रीति-रिवाज, विशिष्ट-बोली, वेश-भूषा के लिए पहाड़ी संस्कृति में विशेष रूप से जाने जाते हैं। गद्दी मूलतः पशुपालक समुदाय है। ये लोग शांति-प्रिय,शिष्ट तथा विनम्र होते हैं। अमर सिंह रणपतिया का मानना है कि गद्दी जनजाति सीमित अर्थ में एक विशेष जाति है, जो मूल रूप से भरमौर निवासी है। व्यापक अर्थ में गद्दी भरमौर निवासी है, चाहे वह किसी जाति या वर्ग से सम्बन्ध रखता हो। डॉ. श्याम सिंह शशि ने गद्दियों को अर्ध-यायावर, अर्ध-कृषक तथा अर्ध-पशुपालक की संज्ञा दी है।

गद्दी जनजाति की व्युत्पत्ति के कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते हैं, किन्तु इस विषय पर विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने तर्क दिए हैं । Hutchison and Vogel, History of the Punjab Hills States में 'गदेरण' शब्द को संस्कृत के 'गड्डर' से उत्पन्न माना है, जिसका अर्थ है 'भेड़' और 'गड्डरिक' का अर्थ है 'भेड़ों की पंक्ति'। भेड़ों को चराने वाले व्यक्ति को आज भी 'गडरिया' कहा जाता है। गद्दी जनजाति की संस्कृति बहुत वैविध्यपूर्ण है। इनमें नुआला पर्व बहुत धूमधाम से मनाया जाता है, जो महादेव शिव से संबंधित पर्व है। नुआला में नर-भेड़ की बलि दी जाती है। फिर उसकी 'मुड्डी' और 'बाहू' (नर-भेड़ की अगली टांग) 'मंडल' (शिव उपासना का स्थान) पर चढ़ाई जाती है। उसके पाचन तन्त्र को प्रसाद रूप में 'बंडारा' दिया जाता है। यह नुआला शिव-जागरण के रूप में पूरी रात चलता है। इसमें ऐंचल्ली गाई जाती है। ऐंचल्ली गद्दी जनजाति की एक प्रमुख गायन विधा है। जिसमें शवीण (शिव-महिमा), पंडवीण, रमीण (रामायण) आदि की लोक गाथाओं

को गीतों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। इसमें पुरुष एवं स्त्री दोनों वर्ग भाग लेते हैं। इसका गायन रात्रि के समय किया जाता है और लोग खुले प्रांगण में घूम-घूम कर नाचते हैं। गाने वालों के हाथ में ढ़ोलकी, डगा, मिट्टी का घड़ा ,बाँस की पतली लकड़ी और 'कुटी' (सर्वधातु से निर्मित थाली) की थाली होती है। गाने वालों को 'बन्दे' नाम से अभिहित किया जाता है। कुटी की थाली को कच्चे घड़े पर रखा जाता है और बांस की लकड़ी से गाने के अनुसार सुर दिया जाता है, इस प्रक्रिया को 'गंथाल 'कहा जाता है। यह कार्यक्रम प्रातः रात के नौ से दस बजे शुरू हो जाता है और सुबह तक चलता रहता है, इस विधा के तहत सुबह गाए जाने वाले गानों को 'भ्यागडा' कहा जाता है। जो अन्य लोग इस कार्यक्रम में बुलाए गए होते हैं, सभी नृत्य करते हैं। ऐंचल्ली का सम्बन्ध 'शिव-विवाह' से है, इसमें बताया गया है कि किस प्रकार शिव और गौरा एक-दूसरे की परीक्षा लेते हैं।

विश्लेषण :

भारत के संविधान 342 वें अनुच्छेद के अंतर्गत 'अनुसूचित जनजाति' शब्द से भारत की जनजातिओं को परिभाषित किया है। भारत में लगभग सात सौ से अधिक जनजातियाँ पाई जाती हैं। जिसमें मुख्य रूप से पूर्वोत्तर भारत के आठ राज्यों (असम, मणिपुर, त्रिपुरा, सिक्किम, नागालैंड, अरुणाचल प्रदेश, मेघालय, मिजोरम) तथा झारखण्ड, छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश, आंध्र प्रदेश एवं अन्य राज्यों के साथ-साथ हिमाचल प्रदेश को भी जनजातीय समुदायों के लिए विशेष रूप से जाना जाता है। हिमाचल प्रदेश में मुख्य रूप से गद्दी, पंगवाल, किन्नौरी, लाहौली, गुर्जर, भोट, बेडा, डोम्बा, गारा, स्वांगल आदि जनजातियों का समूह पाया जाता हैं। हिमाचल प्रदेश की जनजातियाँ देश की कुल जनसंख्या का 0.4% है। हिमाचल में जनसंख्या की दृष्टि से गद्दी जनजाति सबसे अधिक पाई जाती है –

> वर्ष 2011 की जनगणना के अनुसार प्रदेश में कुल जनजातीय आबादी 3,92,126 है जो कि प्रदेश की सम्पूर्ण आबादी का 5.71 प्रतिशत है जिसमें से 1,23,585 जनजातीय क्षेत्र में तथा 2,68,541 गैर जनजातीय क्षेत्र में रह रही है । प्रदेश के अनुसूचित क्षेत्र किन्नौर, लाहौल-स्पिति, पांगी तथा भरमौर परियोजनाओं क्षेत्रों में 31.52 प्रतिशत जनजातीय समुदाय निवास करता है।[1] (रिपोर्ट 2019-20:1)

हिमाचल प्रदेश की गद्दी जनजाति धौलाधार पर्वत के दोनों किनारों पर निवासरत है । इनका क्षेत्र मुख्य रूप से चम्बा, भरमौर, काँगड़ा तथा रावी एवं बुद्धिल घाटियों तक फैला हुआ है। गद्दी जनजाति मुख्यतः भगवान शिव के उपासक माने जाते हैं। ये एक विशिष्ट भाषा का प्रयोग करते है, जिसे 'गद्दियाली' अथवा 'गादी' भाषा कहा जाता हैं। गद्दी समुदाय का मूल निवास स्थान ब्रह्मपुर अर्थात् भरमौर है। गद्दी जनजातीय समुदाय का पारम्परिक व्यवसाय भेड़-बकरी पालन रहा है। जबकि राजनैतिक दृष्टि से इस समुदाय ने हिमाचल-प्रदेश की पुरातन रियासत ब्रह्मपुर अर्थात भरमौर की स्थापना की थी। डॉ. श्याम सिंह शशि (1984) लिखते हैं –

> सुप्रसिद्ध इतिहासकार जे० हेचिन्सन के अनुसार चम्बा भारत की सबसे पुरानी रियासत थी। मारु सबसे पहला यहाँ का शासक था। वह बड़े धार्मिक विचारों का था और अयोध्या के राजपरिवार से यहां आया था। वह स्थान-स्थान पर घूमता रहा और अन्त में चम्बा पहुंचा।
>
> नारदपाल ने बारह वर्षों तक चम्बा में युद्ध किया। उसकी सेनाएं मंडी के निकट तक गई। यह लड़ाई यहां की लोक कथाओं में आज भी विद्यमान है। गद्दी सेना ने इस क्षेत्र में अपने अदम्य साहस का परिचय दिया और मनाली के राणा को मात खानी पड़ी। कुल्लू के लोग आक्रामकों से छुटकारा पाने के लिए बेचैन थे। आखिर बड़ी कठिनाई के बाद शान्ति स्थापित हुई। सेना के विभिन्न अभियानों में भरमौर के राजा गद्दी सेना का योग लेते रहे और यही कारण है कि भरमौर से चम्बा राजधानी स्थानान्तरित होने के बावजूद गद्दी सेना भरमौर में ही रही। आज भी इस समाज के अनेक योद्धा भारतीय सेना में सेवारत हैं। (शशि 1984:38)

व्यापक अर्थों में गद्दी एक जाति नहीं, अपितु एक समुदाय है जो अलंकरण के रूप में भरमौर अर्थात् 'गद्देरण' में निवास करने वाले लोगों के लिए प्रयुक्त किया जाता है। 'गद्दी' नामकरण विशेष

रूप से गद्दियार क्षेत्र में निवास करने वाले उस विशेष वर्ण के लोगों के लिए प्रयोग किया जाता है, जिन्होंने आपसी सहयोग से भरमौर रियासत के आदि संस्थापक राजा मारू के साथ ब्रह्मपुर रियासत (गद्दी) की स्थापना की थी। भरमौर में 'गद्दी' स्थापित होने के फलस्वरूप इस समूचे क्षेत्र को 'गद्देरण' के नाम से भी अभिहित किया जाता रहा है। अमरकोश में 'गद्दी' शब्द का अर्थ, उदाहरण एवं पर्यायवाची इस प्रकार से दिया है –

> राजा के बैठने का विशेष प्रकार का आसन । उदाहरण : महाराज गद्दी पर विराजमान हैं। पर्यायवाची : तख्त, तख्ता, पाट, पीठ, राज सिंहासन, राजगद्दी, राजसिंहासन, सिंघासन, सिंहासन। (http://अमरकोश. भारत का शब्दकोश अमरकोश. भारत/ हिन्दी/ शब्द/ गद्दी)

अतः 'गद्दी' शब्द का शाब्दिक अर्थ है – किसी विशेष आसन पर बैठने अथवा किसी को सुशोभित करने की अवस्था या भाव को कहा जाता है जिसके पर्यायवाची शब्द तख्त, सिंहासन, राजसिंहासन एवं राजगद्दी हैं।

साधारण शब्दों में 'गद्दी' शब्द का भावबोध- आसन, सिंहासन, राजसिंहासन अथवा राजसत्ता से है यदि दूसरे शब्दों में कहा जाए तो अधिक सम्मानित व्यक्ति को बैठने के लिए लगाया गया आसन अर्थात् जो किसी राजगद्दी का उत्तराधिकारी या किसी सत्ता पर सिंहासनारूढ़, सत्तारूढ़ हो उसे 'गद्दी' शब्द से अभिहित किया जा सकता है। श्री रत्न चंद वर्मा 'गद्दी' शब्द को परिभाषित करते हुए स्पष्ट रूप से लिखा हैं –

> गद्दी शब्द की व्युत्पत्ति जाति एवं समाज के लिए नहीं, अपितु अलंकरण के रूप में उस विशेष वर्ण के लोगों के लिए थी जिन्होंने गद्दी की स्थापना की थी । जिसका सम्बोधन हम आज गद्दी जाति के रूप में करते। (वर्मा 2015:2)

विवेचित संदर्भों से स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि 'गद्दी' शब्द राजा के समतुल्य सम्मानजनक या राजा का ही पर्यायवाची है। पाणिनि के अष्टाध्यायी (4/3/93) में 'गब्दिका' शब्द प्रयुक्त हुआ है जो विशेष जनपद विशेष के अर्थ में हुआ है। कुछ विद्वान, इतिहासकारों ने 'गब्दिका'

का अपभ्रंश रूप 'गद्दी' माना है। ब्रह्मपुर अर्थात भरमौर में 'गद्दी' स्थापित होने के परिणामतः इस क्षेत्र को 'गद्देरण' के नाम से जाने जाना लगा तथा इस जनपद में निवास करने वाले जनसमुदाय को गद्दी समुदाय से भी पहचान मिली।

हिमाचल प्रदेश की सांस्कृतिक विरासत को जीवंत रखने में गद्दी समुदाय का विशेष योगदान है। ध्यातव्य है कि गद्दी जनजाति हिमाचल प्रदेश के भरमौर जनपद के मूल निवासी हैं, परन्तु कुछ इतिहासकारों का कहना है ये लोग मुगलों के आक्रमणों से भयभीत होकर हिमालय की ओर आए जो पूर्णतः तर्कसंगत नहीं है। जिसका कारण यह है कि इस्लाम धर्म की स्थापना के सैंकड़ो वर्ष पूर्व ब्रह्मपुर (550 ई.) में 'गद्दी' की स्थापना हो चुकी थी। भरमौर की गद्दी सेना ने 680 ई० में अपने राजा मेरु वर्मा की अगुवाई में कुल्लू राज्य पर आक्रमण कर कुल्लू को भरमौर राज्य में मिलाया था ।

इस संदर्भ में ई. रत्न चंद वर्मा ने लिखा है –

> युद्ध के समय जिस स्थान पर भरमौर की गद्दी सेना ने जहाँ लंगर डाला था वह आज भी गद्दी पधर के नाम से पुकारी जाती है जो मनाली और रोहतांग के बीच स्थित है। भरमौर की सेना 'गद्दी सेना' के नाम से जानी जाती थी जिसका वर्णन कुल्लू राज्य जे उस समय के इतिहास में वर्णित है। गद्दी सेना के किले खण्डरात इस बात के आज भी साक्षी हैं। (वर्मा 2015:2)

लेकिन जब साहिल वर्मन ने ब्रह्मपुर रियासत की राजधानी चम्बा स्थानांतरित की तो उसके पश्चात गद्देरण अर्थात् भरमौर से राजा का सम्बन्ध धीरे-धीरे टूटता गया। यह बात जान लेना अति आवश्यक है कि भेड़पालक को स्थानीय भाषा में 'पाह्ल' अथवा 'पुहाल'(चरवाहा) की संज्ञा दी जाती है जो चाहे किसी भी वर्ण से सम्बन्धित क्यों न हो। किन्तु भूलवश प्रायः कई विद्वान इतिहासकार, साहित्यकार एवं अन्य लोग चरवाहे को ही गद्दी पहचानते, कहते हैं। इस सन्दर्भ में महापंडित राहुल सांकृत्यायन लिखते हैं –

> गद्दी का नाम बाहर सुनकर लोग यह समझते हैं कि यह मेषपालों की कोई जाति है, पर वस्तुतः यह एक इलाके के लोगों का नाम है, जिनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय (राजपूत) खत्री आदि जातियाँ हैं। (सांकृत्यायन 2009:287)

व्यवहारिकता और लोकव्यवहार में भी 'गद्दी' और 'पुहाल' दोनों शब्दों में भेद है। ब्रह्मपुर में संघ की गद्दी अथवा राजसिंहासन स्थापित होने और इनकी स्थापना में सम्मिलित सत्तारूढ़ (सिंहासनरूढ़) क्षत्रिय वर्ण के लोगों को 'गद्दी' शब्द से अलंकृत किया जाने लगा, जिनकी सन्तति कालान्तर में 'गद्दी' के नाम से लोक में प्रचलित एवं प्रसिद्ध हुए। वस्तुतः 'गद्दी' शब्द राजा के समतुल्य सम्मानजनक या राजा का ही पर्यायवाची होने से सम्माननीय, था जो कालान्तर में राजनैतिक, भौगोलिक व सामाजिक कारणों के उलटफेर में केवल 'भेड़पालक' समुदाय के रूप अपनी प्रतिष्ठा खो बैठा।

समय बदलता गया और चम्बा (प्रथम राजधानी ब्रह्मपुर) के राजाओं का सम्बन्ध ब्रह्मपुर से कट गया। जिससे भरमौर की राजगद्दी पर समान अधिकार रखने वाले क्षत्रिय कबीलों की पीढ़ियाँ हाशिए पर आ गयी और केवल भेड़पालक जाति के रूप में गौण हो गयी। इस भारी राजनैतिक उलटफेर के बावजूद भी गद्दी जनजाति ने अपनी हार नहीं मानी और आत्मनिर्भर होकर अपना जीवन व्यतीत की। इस जनजाति ने सदियों से चली आ रही अपनी लोकभाषा, रहन-सहन, खानपान, वस्त्राभूषण, लोकाचार और लोकसंस्कृति को अक्षुण्य बनाए रखा है और वर्तमान में अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाए हुए है। गद्दी जनजाति के संघर्ष के संदर्भ में डॉ. गौतम शर्मा व्यथित लिखते हैं –

> आज़दी से सदियों पहले दासता काल में या सामन्ती अथवा रजवाड़ा शाही में इस जाति का जीवन, शिक्षा, व्यवसाय, आर्थिक स्थिति आदि की दृष्टि से सामान्य स्तर का था। अधिकांशतः भेड़-बकरी पालन, ऊन के पट्टू, गरडू बनाने, ऊन बेचने, नदियों में लड़की की ढलानी-कटानी, मज़दूरी, धान कुटाई, सामान दलवाई, (मट्टी-मज़दूरी) आदि कार्यों द्वारा अपनी जीविका कमाते निर्वाह करते। भोगौलिक दृष्टि से भी गद्देरन में सर्दी का अधिक प्रकोप रहता। प्रायः अनेक गांव, बस्तियाँ बर्फ में दबी रहतीं। (व्यथित 2012:20)

गद्दी समुदाय की आर्थिक व्यवस्था इनके पारम्परिक आर्थिक क्रियाकलापों तथा व्यवसायों पर निर्भर है। वस्तुतः 'गद्दी' एक समुदाय है, जो अपनी दैनिक आवश्यकताओं व आर्थिक स्त्रोतों को

लेकर आत्मनिर्भर है। इस समुदाय में एक कहावत प्रचलित है कि – 'असे सिर्फ लूँण खरीददे थिए, बाकि सब कुछ अप्पू तैयार करदे थिए' अर्थात् इस समुदाय के लोग बाहर से सिर्फ नमक का आयात करते थे बाकि समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं करते थे।

> यह लोग व्यवसाय की दृष्टि से चरवाहे हैं । भेड़-बकरियों के रेवड़ ही इनकी सम्पत्ति है जिसे 'धण' कहा जाता है। यह थोड़ी कृषि भी करते हैं । (व्यथित 2012:14)

'धण' शब्द धन का अपभ्रंश रूप है। 'धन' अथवा 'धण' के शाब्दिक प्रयोग से ही इनकी आर्थिक व्यवथा को स्वतः ही इंगित करता है। गद्दी जनजाति के अधिकांश परिवारों के पास लगभग 100-150 या इससे अधिक भेड़-बकरियाँ होती हैं। जीवन-निर्वाह हेतु यह लोग भेड़-बकरियों के रेवड़ को समय-समय पर अपनी आवश्यकताओं के अनुसार बेचते रहते हैं। इसके अतिरिक्त भेड़ की ऊन को चरखे पर कातकर, रच्छ (हस्त करघा) पर बुनकर ऊनी चादरें, पट्टू, पट्टियाँ, 'गरडू' तथा पहनने के लिए चोला-डोरा आदि निर्मित करते है। इस पर भेड़ की ऊन से स्वनिर्मित यह वस्तुएँ स्वयं की आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ अन्य लोगों को विक्रय करके भी इनके आर्थिक साधन का प्रमुख स्त्रोत है। इसके अतिरिक्त अन्य पशुपालन यथा-गाय, बैल तथा घोड़ा इनके दूध, खेती-बाड़ी तथा बोझा ढोने के काम आते हैं। इसलिए कहा जा सकता है की गद्दी समुदाय अपनी जीविकोपार्जन के लिए स्वयं पर निर्भर है। हिमाचल प्रदेश के जनजातीय क्षेत्र की समृद्धता के संदर्भ में सुदर्शन वशिष्ठ (2017) लिखते हैं –

> हिमाचल में ऐसा नहीं है। यहाँ के जनजातीय लोग समृद्ध, सभ्य और सुसंस्कृत हैं। इनके अपने संस्कार हैं, प्राचीन परंपरा है। दूसरी ओर जहाँ किन्नौर में सेब, बादाम, चिलगोजे की नकद फसल होती है, वहाँ लाहौल में आलू और जड़ी-बूटियों का भंडार है तो भरमौर में ऊन, पश्म की गर्माहट है। हाल ही में भारत का चीन से व्यापार खोला गया है किंतु कुल्लू दशहरा और रामपुर लवी मेले में सदियों पहले के रूस, चीन, तिब्बत, समरकंद, यारकंद से व्यापार होता था। लाहौल स्पिति की बौद्ध परंपरा और भरमौर के मंदिरों का इतिहास सीधा आठवीं शताब्दी से जुड़ता है। विकट और दुर्गम भौगोलिक परिस्थितियों और

> अत्यधिक शीतल जलवायु के बावजूद संपन्नता है। गहनता, गंभीरता और गर्माहट है विशिष्ट पुरातन संस्कृति की। (रणपतिया 2010:29)

गद्दी समुदाय के जीविकोपार्जन का दूसरा प्रमुख साधन कृषि है। गद्दी पुरुष साल भर अपनी भेड़-बकरियों की देखभाल में व्यस्त रहते हैं, जबकि उनके गृह तथा कृषि कार्य महिलाओं द्वारा किए जाते है। भरमौर जनपद के स्थानीय निवासी असुज और कार्तिक माह में जौ, गेहूं बीजते हैं। कुछ परिवार गेहूं और जौ बीज कर 'जान्धर' चले जाते हैं और चैत्र मास में पुनः लौटकर मक्की की बुवाई करते हैं। इसके अतिरिक्त कम समय में तैयार ओने वाली अनेक फसलें हैं जिनमें –

> फुल्लन और भरेस, यह खरीफ़ की फसलें हैं। अन्य फसलों में प्रायः बैशाख और जेठ में बोई जाती है और अश्विन मास में काटी जाती हैं।...आलू ,माश (उरद), राजमाह, फुल्लन और भरेस तथा सियुल नकदी फसलें हैं। (वशिष्ठ 2017:6)

गद्दी समुदाय पर्वतीय क्षेत्रों में निवास करती है, जो कृषि और प्राकृतिक संसाधनों, फलों, सब्जियों, जड़ी-बूटियों आदि के लिए उत्तम व उपजाऊ भूमि है।

> जनजातियाँ चाहे पशुपालक हों या खाद्य संग्रहिता किन्तु उनके जीवन में एक ऐसी स्थिति आती है, जब उन्हें कृषि का सहारा लेना पड़ता है। (शशि 1984:12)

इसलिए अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति तथा व्यवसाय के लिए यह लोग – जौ, मक्की, राजमाह, माश की दाल, भरेस, चणिया, आलू, फुलन तथा कुछ नकदी फंसलें, जंगली फसलों सहित सेब, नाशपाती, अखरोट, आड़ू आदि की पैदावार से इनको काफी आर्थिक सहायता मिलती है। प्राकृतिक रूप में अनेक फसलें हैं जिसमें- फफरु, मशरूम, सेडी, खुख, छतरी तथा 'गुच्छी' है। जबकि फलदार वृक्षों में सेब, नाशपाती, आड़ू, खुमानी, कूं, कैंथ, आदि पाए जाते हैं। खेतीबाड़ी के लिए मुख्यतः पहाड़ी बैलों का ही प्रयोग में लाए जाते हैं तथा खेत जोतने के लिए देसी 'हल' का प्रयोग किया जाता है, जो 'बन' या 'खरैयु' नामक पेड़ को काटकर बनाई जाती है। हल बनाने का कार्य

प्रायः हाली और बाढ़ी उपजाति के लोग करते हैं। अस्तु गद्दी जनजाति के लोगों का सामाजिक जनजीवन पुहाली और कृषि कार्यों के इर्द-गिर्द घूमता रहता है। प्रेम शर्मा लिखते हैं –

> यहाँ के निवासी असूज और कार्तिक माह में जौं, गेंहूं बीज कर जान्धर चले जाते हैं और चैत बैशाख में लौट कर मक्की बीजा करते हैं। बीजे हुए जौं, गेहूं आषाढ़ मास तक पकते हैं। अतः कृषि भूमि का दुगना होना आवश्यक रहता है। इसी कारण यहाँ की भूमि एक फसली कहलाती है। शीतप्रधान स्थान होने से धान की कृषि सफल नहीं होती। अतः चावल का स्थान लेने वाले अन्न हैं चणे, सालण, कौणी, बजरभंग, फुल्लण, स्यूहल, चौली (एक विशेष प्रकार की भंगड़ी भांग)। दालें प्रायः सब तरह की उपजायी जाती हैं, जिनमें माह रौंगी, भटरौंगी, कुलथ, मुंगी, राजमाह विशेष स्थान बनाए हुए हैं। घीया, कद्दू, गद्दी घंडोली, टमाटर आदि सब्जियाँ भी लगभग सब तरह की उत्पन्न हो जाती हैं, केवल थोड़ा-सा भेद बीजने और काटने के समय का अवश्य रहा करता है। ऐहण, फफरू, खसरोहद, आदि बन सनिय भी प्रयुक्त होती है। कोदरा, मक्की, गेहूं भी खूब उत्पन्न होते हैं। अब तो मालू की फरान भी होने लगी है। भरेस भी उगाई जाती हैं। अंजीर, खुर्मानी, अखरोट, बदाम, सेब की नकदी फसलें भी बढ़ रही है यहाँ। (व्यथित 2012:28-30)

इसके अतिरिक्त, समुदाय के विभिन्न वर्ग अपने-अपने पारंपरिक व्यवसाय करके अपना निर्वाह करते हैं यथा- 'लोहार' लोहे के औजार, कुम्हार- वर्तन तथा बाँस की टोकरियाँ, सिप्पी धातु के वर्तन,'रिहाड़े' वाद्ययंत्र तथा हाली, बाढ़ी उपजातियाँ कृषि में उपयोग होने वाले औजारों का निर्माण कर अपनी आजीविका कमाते हैं, अतः यहीं लघुउद्योग इनके जीविकोपार्जन के मुख्य साधन हैं। वहीं, गद्दी राजपूत भेड़-बकरी पालन तथा ब्राह्मण समुदाय के लोग धार्मिक कर्मकाण्डों, देवालयों में पूजा-अर्चना आदि के माध्यम से अपना जीवन-व्यतीत करते हैं।

> जबकि कुछ लोग धूप, कौड़ तथा अन्य पहाड़ी जड़ी-बूटियों का क्रय-विक्रय कर तथा मेहनत मजदूरी करके अपनी आजीविका बनाते दिखाई देते हैं। (द्विवेदी 1982:54)

पारम्परिक व्यवसाय के अतिरिक्त विभिन्न अवस्थाओं में सांस्कृतिक संक्रमण तथा आने वाली युवा पीढ़ी के साक्षर होने के फलस्वरूप शिक्षा के प्रसार के कारण पढ़े-लिखे युवक सरकारी नौकरी की ओर अधिक संख्या में भाग ले रहे हैं। फलतः भेड़-पालन को क्षति पहुँच रही है।

जबकि रियासतकाल अर्थात 920 ई० से पूर्व इस समुदाय के राजपूत (गद्दी) वर्ग का ब्रह्मपुर की राजगद्दी पर राजा के समान अधिकार था क्योंकि इनके पूर्वजों के सहयोग और भागीदारी से भरमौर रियासत की स्थापना हुई थी। अतः शासन के ऊँचे-ऊँचे ओहदों में गद्दी (क्षत्रिय) वर्ग का अधिपत्य था। वहीं भरमौर की सेना 'गद्दी-सेना' के नाम से सुप्रसिद्ध थी, जिन्होंने राजा मेरु वर्मन, साहिल वर्मन के समय क्रमशः कुल्लू, भरमौर के साथ लगते राणाओं, ठाकुरों तथा किरग्राम (बैजनाथ) आदि को हराकर भरमौर-चम्बा रियासत में शामिल था। 920 ई० में ब्रह्मपुर रियासत की राजधानी चम्बा स्थानांतरित होने के फलस्वरूप गद्दी समुदाय का सम्पर्क एकतरह से टूट गया, अतः जिन लोगों ने ब्रह्मपुर साम्राज्य की स्थापना की थी वह लोग हाशिये पर आ गए। फलस्वरूप दसवीं शताब्दी के उपरांत गद्दी समुदाय का क्षत्रिय वर्ग केवल भेड़-बकरी पालन तक ही सीमित हो गया। डॉ. मोहनलाल का कथन है –

> अनेक सामाजिक तथा राजनीतिक कारणों से भारत के मैदानों में महाभारत काल में यदुवंशी और तत्पश्चात् राजपूत, ब्राह्मण और खत्री आदि जातियों के लोग यहाँ आकर बसते रहे और यही स्थिति उत्तर-पश्चिम से आक्रमण करनेवाले गुर्जर, हूण आदि के विषय में रही। 17वीं शताब्दी तक इस क्षेत्र में बाहर के लोगों के आकर बसने का क्रम निरन्तर चलता रहा। गद्दियार प्रदेश के बाहर से आनेवाले लोग भी इस प्रदेश के निवासियों के साथ घुल-मिल कर एक हो गए और वे भी गद्दी कहे जाने लगे। इनकी अनेक शाखाएँ आर्थिक कारणों से भरमौर (गद्दियार) से निकलकर जम्मू, काँगड़ा तथा चम्बा जिला के अनेक स्थानों पर बस गई। वे गद्दियार के गद्दियों के रीति-रिवाज़ों को आज भी व्यवहार में मानते हैं। (रमण 2012:28)

वर्तमान संदर्भ में शिक्षा एवं आधुनिकीकरण के प्रभावमयी से गद्दी समुदाय के लोग अपने पारंपरिक आर्थिक साधनों के साथ-साथ अन्य अनेक आधुनिक व्यवसायों में अपनी सेवाएँ दे रहे हैं। अतः वर्तमान में विभिन्न सरकारी, गैर-सरकारी संस्थानों व राष्ट्र सेवा आदि में भी अपनी महत्त्वपूर्ण

भूमिका का निर्वहन कर रहे हैं। चूँकि भरमौर जनपद में अनेक विद्युत परियोजनाएं हैं, इसलिए अधिकतर लोग इन परियोजनाओं में अपनी सेवाएं दे रहे हैं। नन्द कुमार (1983) अपनी पुस्तक 'गद्दी जनजीवन एवं सामाजिक परम्परा' में लिखते हैं –

इस जाति के सदस्य पढ़ लिखकर अब अपने समुदाय, देश और राष्ट्र की सेवा में संलग्न हैं तथा राजनैतिक ढाँचे में ऊँचे-ऊँचे पदों पर आसीन हैं। (कुमार 1983:255)

उदाहरणतः वर्तमान में गद्दी समुदाय से सम्बन्धित प्रो. (डॉ.) जनकराज पखरेटिया, जो हिमाचल प्रदेश के सबसे बड़े अस्पताल इंदिरा गाँधी मेडिकल कॉलेज एवं अस्पताल में वरिष्ठ चिकित्सा अधीक्षक एवं न्यूरोसर्जरी विभाग में विभागाध्यक्ष (वर्तमान में विधायक), डॉ. केहर सिंह ठाकुर जी कृषि वैज्ञानिक है, हिमाचल प्रदेश के वरिष्ठ आई.ए.एस. अधिकारी ओंकार शर्मा जी राजस्व और जनजातीय विभाग में मुख्य सचिव, वहीं श्री किशन कपूर कांगड़ा-चम्बा के सांसद तथा सर्वश्री- श्री विक्रम सिंह जरयाल (भट्टियात), श्री जिला लाल कपूर (भरमौर) तथा श्री विशाल नेहरिया (धर्मशाला) विधायक के तौर में अपनी सेवाएँ दे रहे हैं। इसके अतिरिक्त विवेच्य समुदाय के असंख्य सदस्य पढ़-लिखकर देश तथा प्रदेश के अनेक विभागों में सरकारी तथा गैर-सरकारी सेवाओं में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन कर रहे हैं, जिससे इस जनजाति की आर्थिकी सुदृढ़ हुई है।

निष्कर्ष :

अन्ततोगत्वा कहा जा सकता है कि इस सबके बावजूद भी दुर्गम भौगोलिक परिस्थितियों, यातायात, शिक्षा तथा संचार की सुविधाओं के अभाव में अधिकतर वर्ग अभी तक अपने पारम्परिक आर्थिक प्रवाह में अपना जीवन-यापन कर रहे हैं। यदि सरकार की ओर से यातायात, शिक्षा, संचार आदि की मूलभूत सुविधाएँ व्यवहारिक तौर पर प्रदान की जाएँ तो पर्यटन, बागवानी, विद्युत परियोजनाएँ, लघु-उद्योग, भेड़-बकरियों की उन्नत नस्लें तथा चारागाह आदि मुहैया करवाया जाएँ तो आर्थिक तथा सामाजिक रूप से यह क्षेत्र तथा सम्बन्धित समुदाय अधिक सम्पन्न होगा।

ग्रंथ-सूची :

Vogel, J.P.H. History of the Punjab hill states . 1994 .स

कुमार, नन्द. गद्दी जन-जीवन ऐतिहासिक एवं सामाजिक परंपरा. चंडीगढ़स: बंधु भारतीप्रकाशन, 1983 .

द्विवेदी, भक्त राम. "ब्रह्मौरी जनजीवन की झलक." सोमसी पत्रिका (1982).

रणपतिया, अमर सिंह. गद्दी भरमौर की लोक संस्कृति एवं कलाएं . शिमला : हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी, 2010 .

रमण, तुलसी. पांगी-भरमौर जीवन और संस्कृति . शिमला : हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी, 2012 .

वर्मा, ई. रत्न चंद्र. चंबा-भरमौर के संस्थापक वीर गद्दी. कांगड़ा : सावित्री ऐतिहासिक शोध केंद्र उपरली दाड़ी धर्मशाला, 2015.

वशिष्ठ, सुदर्शन. जनजाति संस्कृति (हिमालय गाथा -3) . दिल्ली : सुहानी बुक्स, 2017 .

वार्षिक प्रशासनिक रिपोर्ट. शिमला , 2019-20.

व्यथित, गौतम शर्मा. हिमाचल की गद्दी जनजाति : देव परंपरा और संस्कृति . दिल्ली : साहित्य रत्न, 2012.

शशि, डॉ. श्याम सिंह. भारत के यायावर . दिल्ली : जगत राम एंड संज, 1984.

****

संपर्क-सूत्र :

डॉ. रवि कुमार गोंड़

सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग, हंसराज कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

ई-मेल: ravigoan86@gmail.com

मोब. 7807111737

डॉ. भरत सिंह

सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग, हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय , धर्मशाला, कांगड़ा, हिमाचल प्रदेश

ई-मेल: bharat.singh85000@gmail.com

शोध-चिंतन पत्रिका: विद्वानों द्वारा पुनरीक्षित ई शोध पत्रिका
वर्ष : 6 ; अंक: 10-11 ; जनवरी-दिसंबर,2025; पृष्ठ संख्या : 25-36

समकालीन हिन्दी कविता और नारी

डॉ. कल्पना साईकिया

शोध-सार :

साहित्य में स्त्री सदैव वर्ण्य विषय के रूप में केन्द्रबिन्दु में रही है। समकालीन हिन्दी कवियों ने नारी को देश की संस्कृति, धर्म, साहित्य एवं ज्ञान-विज्ञान का स्तंभ माना है। समकालीन हिन्दी कविता में नारी की संवेदनाएँ और अनुभव, उसके संघर्ष, प्रेम और निराशा को अत्यंत गहराई से अभिव्यक्त किया गया है। ये कविताएँ न केवल नारी के अंतर्मन की जिजीविषा, उसकी इच्छाओं और आकांक्षाओं को उजागर करती हैं, बल्कि समाज में नारी की स्थिति पर भी सवाल उठाती हैं। नारी के प्रति स्वानुभूति के पक्ष को सशक्त रूप से उजागर करने के लिए समकालीन कवियों ने नारी की समस्याओं को साहित्य में अत्यंत सूक्ष्मतापूर्वक प्रस्तुत किया है। नारी को अबला न मानकर शक्ति का प्रतीक माना गया है तथा नई सदी के प्रारंभ में नारी के विकास तथा उन्हें अधिकार-सम्पन्न बनाने के लिए प्रयास किए जा रहे है, जो समाज में नारी के प्रगति का सूचक है। स्वतंत्रता के बाद नारी को आत्मोन्नति के अधिक अवसर सुलभ हुए हैं, वह पहले से अधिक सजग, जागरूक और अपने अधिकारों के प्रति सचेत हुई है। अब वह पारंपरिक सामाजिक ढाँचे से बाहर निकलकर, बदलते हुए समय की चुनौतियों का सामना करने के लिए तैयार खड़ी है। समकालीन रचना-जगत में नारी के प्रति इन्हीं उद्देश्यओं की पूर्ति के लिए रचनाकारों ने अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं और स्त्री को उसके अपने अस्तित्व का बोध कराया है।

बीज शब्द : *समकालीन कविता, स्त्री विमर्श, सामाजिकता, कविता, जागरूकता, जिजीविषा*

प्रस्तावना :

प्राचीन काल से ही नारी को शक्तिरूपा माना गया है। वेदों में नारियों को बहुत आदरणीय स्थान दिया गया है। इस काल की कविताओं में नारी को घर और परिवार की सुख-शांति का स्तंभ माना गया है। प्राचीन धार्मिक ग्रंथों व साहित्य के अवलोकन से पता चलता है कि पति-पत्नी दोनों के लिए संयुक्त रूप से 'दम्पति' शब्द का प्रयोग हुआ है। ऋगवेद काल में स्त्रियों की उच्च स्थिति का वर्णन मिलता है, क्योंकि इसमें पति और पत्नी दोनों के एक साथ घर के स्वामी होने का विचार सन्निहित है। यही कारण है कि प्राचीन ग्रंथों में पुरुष को स्त्री के बिना अपूर्ण माना गया है और यही अर्धांगिनी की कल्पना का आधार है। हमारे वेदों, उपनिषदों और पुराणों में महिलाओं के गुणों का वर्णन मिलता है। 'सुभाषित रत्नाकर' जैसे ग्रंथों में महिलाओं की बुद्धिमत्ता और ज्ञान का सम्मान किया गया हैं। उस काल में नारियों की स्थिति सम्मानीय थी, वे केवल साधारण जीवन के अलावा समाज के मानसिक एवं धार्मिक नेतृत्व में भी उनकी महत्वपूर्ण भूमिका थी। जिन स्त्रियों में धार्मिक साहित्य रचने की शक्ति थी, उनको अपनी इस प्रवृत्ति के अनुसार चलने में किसी प्रकार की रोक-टोक नहीं थी। कुल मिलाकर, इस युग में नारी की स्थिति संतोषजनक थी । नारी को सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक क्षेत्रओं में उच्च स्थान प्राप्त था।

मध्यकालीन भारत में नारी को अनेक प्रकार के प्रतिबंधों का सामना करना पड़ा। इस युग में नारी की स्थिति का पतन अपने चरम पर था। विशेष रूप से मुस्लिम आक्रांताओं के आगमन के बाद, महिलाओं की स्थिति और भी नाजुक हो गई। महिलाओं की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक स्थिति अत्यंत शोचनीय थी। इस काल में महिलाओं की भूमिका, उनके अधिकार और स्वतंत्रता विभिन्न कारकों पर निर्भर करते थे। जैसे कि जाति, धर्म और भौगोलिक स्थान। मध्यकालीन समाज में नारी की स्थिति एक जटिल विषय है। जहाँ एक ओर कुछ महिलाएँ अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करती थीं, वहीं दूसरी ओर अधिकांश महिलाओं को सामाजिक बंधनों और परंपराओं के कारण कठिनाईयों का सामना करना पड़ा। हालाँकि, कुछ संतों और विचारकों ने महिलाओं के अधिकारों की बात की, लेकिन समाज में व्याप्त रूढ़िवादिता ने इन विचारों को सीमित कर दिया। कुछ संत कवियों ने नारी के प्रति भक्ति भाव और उसकी सामाजिक स्थिति को लेकर कई

रचनाएँ की , जिसनें नारी की आंतरिक पीड़ा को दर्शाया गया हैं। स्त्रियों की दशा में युग के अनुरूप परिवर्तन होता रहा है। उसकी स्थिति में वैदिक युग से लेकर पूर्व मध्ययुग तक अनेक उतार-चढ़ाव आते रहे । बदलती हुई स्थितियों के अनुरूप नारी के सामाजिक एवं आर्थिक अधिकारों में भी विभिन्न कालों में परिवर्तन होते रहे, जिसकी पुष्टि तत्कालीन साहित्य से विदित होती हैं। हाँलाकि, समय के साथ नारी की स्थिति में परिवर्तन आया। आधुनिक युग के सामाजिक और धार्मिक सुधार आंदोलनों ने भी स्त्रियों की सामाजिक स्थिति को प्रभावित किया है । धीरे-धीरे नारी ने भी अपने अस्तित्व की पहचान शुरू की।

समाज में नारी की पारंपरिक छवि एक परिवर्तित संस्करण के रूप में सामने आई है। पुरानी परितिस्थियाँ बदली है, पारिवारिक परिवेश बदला है, अधिकार-चेतना बदली है किंतु नारी की मूलभूत स्थिति में ज्यादा अंतर नहीं आया है। यदि महिलाओं को अपनी दशा में परिवर्तन लाना है तो उन्हें बदलते हुए समय की चुनौतियों को स्वीकार करना होगा तथा इस दिशा में स्वंय सक्रिय भूमिका निभानी होगी। उन्हें मुख्य धारा में जोड़ने तथा पुरुषों के समान सक्षम बनाने की जरूरत है, ताकि वे अपनी अस्मिता को बनाए रख सकें। समकालीन हिन्दी कविता में इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कवियों ने अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। इसमें नारी को एक स्वतंत्र और सशक्त व्यक्तित्व के रूप में प्रस्तुत किया गया है। नारी का सौंदर्य सिर्फ शारीरिक नहीं, बल्कि उसकी आत्मानुभूति और संवेदनशीलता को दर्शाने वाला है, जिसे समकालीन कवियों ने प्राथमिकता दी है। स्त्री जीवन के परिवेश, परिस्थितियाँ, जीवनानुभव भोगे हुए सुख-दुख को विभिन्न विधाओं के माध्यम से इन कवियों ने अभिव्यक्त किया है। साथ ही पुरुष-प्रधान संस्कृति, विषम सामाजिक व्यवस्था का पर्दाफाश करना, स्त्री के विशिष्ट अनुभवों को व्यक्त करना, स्त्री भाव-भाषा का स्वरूप, नए समाज का मूल्यांकन और उसमें अपने आस्तित्व की पहचान तलाशना, नारी के विविध रूपों की पीड़ाओं, कुंठाओं, विद्रोह, क्रोध, प्रतिवाद को अभिव्यक्त करना आज के समकालीन हिन्दी कवियों के प्रमुख बिंदु हैं। इन कवियों ने पुरुष द्वारा निर्मित नारी की अबला, पीड़िता और कामुक रूप छवि को तोड़ा हैं और नारी मन की संवेदनाओं को व्यक्त किया है। आज की नारी केवल परिवार की सीमाओं में

बंधी नहीं है, बल्कि वह समाज के हर क्षेत्र में अपनी उपस्थिति दर्ज करवा रही है। समकालीन कविता में नारी के प्रति संवेदनशीलता और सहानुभूति का भाव साफ झलकता है। यह दर्शाता है कि नारी अब अपने अधिकारों के लिए सजग हो चुकी है और अपने संघर्ष को साझा करते हुए समाज में बदलाव लाने का प्रयास कर रही है।

विश्लेषण :

हमारे समाज में स्त्रियों की स्थिति सभी कालों में एक जैसी नहीं रही। बदलते समाजिक-आर्थिक परिदृश्य में जो परिवर्तन हुए हैं, उसने नारी की सामाजिक, आर्थिक, मानसिक, दशा एवं विचारों में विभिन्न परिवर्तन लाने में मुख्य भूमिका निभाई है। मध्यकाल में उसकी स्थिति ने एक नया मोड़ लिया, जहां उसका सामाजिक शोषण होने लगा। परंतु आधुनिककाल में नारी का बिल्कुल नया चेहरा लोक के सामने प्रकट हुआ जिसमें वह पुरुष प्रधान समाज को चुनौती देती हुई अपने आत्मविशासपूर्ण व्यक्तित्व को प्रस्तुत करती हैं।समकालीन हिन्दी कविता में नारी की भूमिका और उसकी अनेक छवियाँ उभर कर सामने आई हैं, जो उसके संघर्षों और अधिकारों की खोज को प्रमुखता देती है।

> राजनीति या सामाजिक समस्याओं को उठाने के स्थान पर परिवेश और समाज के अनेक छोटे छोटे संदर्भों को अपनी कविता का विषय बनाना चंद्रकला को अधिक प्रिय है। इन संदर्भों के माध्यम से ही वह किसी संदर्भ तक पहुँचना चाहती है। बाहरी दुनिया की अपेक्षा कवयित्री मुक्ति अन्तर में झांकना चाहती है और आंतरिक जगत की विविधता को उभारना चाहती है। (सिंह 2016:108)

वर्तमान समय में महिलाओं का हर क्षेत्र में दायरा बढ़ा हैं, किंतु अभी भी असंतुलन की स्थिति बनी हुई है और भारतीय नारी ने अपनी हीनता की स्थिति को अनुभव किया हैं।

> स्त्री पुरूष के बीच मौजूदा सामाजिक सम्बंधों को जो सिद्धांत नियंत्रित करते हैं (एक का दूसरे के कानूनी रूप से अधीन होना) स्वयं में ही गलत हैं और अब मानव विकास और सुधार की प्रक्रिया में मुख्य बाधा भी है, और यह कि अब इसका स्थान (स्त्री पुरूष के बीच)

> पूर्ण समानता के सिद्धांत को ले लेना चाहिए, जो न तो एक पक्ष को कानूनी सत्ता या सुविधा दे, न ही दूसरों को अशक्त बनाये। (सक्सेना 2002:33)

समकालीन हिन्दी कवियों के स्त्री विषयक दृष्टि विभिन्न बिंदुओं पर केन्द्रित हैं – स्त्रियों के साथ हीनताबोधपूर्ण, स्वतंत्रता एवं अपने अधिकारों की प्राप्ति, स्त्री-मुक्ति संघर्ष, स्त्री को वस्तु के रूप में देखने की प्रवृत्ति के विरुद्ध नारियों का प्रतिवाद और सबसे महत्वपूर्ण बात है कि स्त्री को मानवी या मानुषी के रूप में स्वीकारना तथा उसकी समानता और स्वतंत्रता को बनाए रखना। इस संदर्भ में समकालीन नारीवादी चिन्तक आशारानी व्होरा लिखती हैं –

> सृष्टि रचना में स्त्री का योगदान पुरुष के योगदान से कहीं ज्यादा है, वह मानव की जन्मदात्री है, फिर संसार के विकास में उसका योगदान क्यों नगण्य रहा? आज भी समानता की भागीदारी केवल विधान के कागजों पर है, व्यवहार में इस आधी आबादी का स्थान अल्पसंख्यको के समान ही है। ऐसा क्यों? इसी वजह से सवाल उठते हैं कि क्या वह अल्पसंख्यक है? क्या वह दूसरे दर्ज की इंसान है? क्या वह केवल पुरुष-पति का मन बहलाव करने की वस्तु है? उसका अपना निजी अस्तित्व अपनी निजी पहचान कहाँ है? निजी तौर पर विश्व हित में उसकी कोई अन्य भूमिका क्यों नहीं रही? ये बुनियादी सवाल आज विकसित, अविकसित, विकासशील सभी देशों में समान रूप से उठाये जा रहे हैं । (व्होरा 2011:184)

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि जब तक स्त्रियाँ स्वयं प्रदत्त सामाजिक भूमिकाओं के विरुद्ध प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करेंगी, तब तक वे न तो स्वतंत्रता की अनुभूति नहीं कर सकेंगी तथा अत्याचार और शोषण से मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकेंगी। समकालीन हिन्दी कविता में नारी-मन की इन्हीं संवेदनाओं को उजागर किया गया है। कवियों ने मानना है कि नारी अपनी पहचान बनाने के लिए स्वयं अपने का व्यक्तित्व का विकास करना होगा। इस संबंध में आशारानी व्होरा कहती हैं –

क्षमता, सामर्थ्य, कर्मठता निर्भीकता और आत्मविश्वास हो कि पुरुष उस नारीत्व का सम्मान करें, उसकी शक्ति को पहचाने, उससे प्रेरणा प्राप्त करें और उसे पाने के लिए प्रयत्न करें, त्याग करे और कुछ बनकर दिखाए। उसके लिए चाहिए अपनी कमजोरियों पर विजय, चरित्र शक्ति और संकल्प शक्ति। बौद्धिक विकास और वैज्ञानिक तर्कसम्मत दृष्टिकोण, जिसमें मतभेद और सुधार, परिष्कार की गुंजाइश हो, संकुचित सीमाओं का विस्तार हो, कमियों और हीनताओं का उदात रूपांतरण हो और हो विचार-सम्प्रेषण की शक्ति। ऐसा खुला-खुला सा, हीनताओं से ऊपर, कुंठारहित उदारचेता व्यक्तित्व ही सही माने में आधुनिक हो सकता है, फिर चाहे जीवन का ध्येय कुछ भी हो। (व्होरा 1994:256)

भारतीय समाज में स्त्री को हमेशा दबाने की कोशिश की जाती रही हैं, साथ ही उसके दबेपन का भी निजी स्वार्थ के लिए उपयोग किया गया है। समकालीन कविता, इस अन्याय के विरोध में स्त्री को खड़े होने का आह्वान कर रही है तथा अपनी उपस्थिति से दुनिया को अपनी मुट्ठी में लेने की प्रेरणा देती है –

यह स्त्री सब कुछ जानती है

पिंजड़े के बारे में

जाल के बारे में

मंगल ग्रहों के बारे में

रहस्य है इस स्त्री की उलटवाँसियाँ

इन्हें समझो

इस स्त्री से डरो। (कात्यायनी 1997:15)

समकालीन हिन्दी कविता ने नारी के दमन के विरुद्ध, तथा उसके के प्रतिकार के स्वर को विकसित करने में अभूतपूर्व सफलता अर्जित की है। यहाँ प्रतिकार का स्तर प्रतिशोधात्मक नहीं,

बल्कि इसमें सामाजिक न्याय, समानता और शांतिपूर्ण अस्तित्व की भावना निहित है। अत: नारी के मनोभावों में क्रांतिकारी परिवर्तन देखने को मिलते हैं। आज की नारी अपने व्यक्तित्व को आकार देती है और समाज में अपनी उपस्थिति दर्ज कराती है। इस भावना को व्यक्त करती हुई सविता सिंह की कविता की ये पंक्तियाँ देखिए-

मुझे वह स्त्री पसंद है जो कहती है अपनी बात साफ-साफ

बेझिझक जितना कहना है बस उतना

निर्भीक जो करती है अपने काम

नहीं डरती सोचती हुई आत्म निर्भरता पर अपने

हटाती नहीं वे आखिरी पर्दे

आत्मा जिन्हें बचाये रखना चाहती है देह के लिए। (सिंह 2005:56)

समकालीन हिन्दी कविता में नारी बहुत ही सशक्त बनकर उभरी है। नारी अब केवल पारिवारिक दायित्वों तक सीमित नहीं है, बल्कि वह समाज में अपनी जगह बनाने के लिए सक्रिय रूप से प्रयासरत है। पारंपरिक व्यवस्था को बदलकर एक ऐसी दुनियाँ और व्यवस्था रचना चाहती है, जिसमें आज की नारी पुरुषों के समान ही क्षमतावान बनें और समाज में अपनी उपस्थिति दर्ज करा सकें-

उसने अपने वजूद का

एक बड़ा हिस्सा

किराये पर उठा रखा है,

दुनिया, दफ्तर, दवा- पानी

उसी आसरें चलता है,-

बाकी के हिस्से में कोई नहीं आता। (अनामिका 2019: 44)

स्त्री अब व्यवस्था के छल को पहचानती है और अपनी स्थिति को भी। आज वह अपने पृथक अस्तित्व, अपनी छवि, अहं, गौरव, उपयोगिता, स्वाभिमान और सार्थकता के लिए संघर्षरत है। उसने अपनी मानसिकता, भावनाओं एवं विचारधारा को बदला है और अपनी आंतरिक शक्ति को पहचान लिया है। वह समझ चुकी है कि वह पुरुष से हीन नहीं है और अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए सजग है –

सोचकर बहुत मैंने कहा उससे

मैं किसी की औरत नहीं हूँ

मैं अपनी औरत हूँ

अपना खाती हूँ

अपना जी चाहता है तब खाती हूँ

मैं किसी की मार नहीं सहती

और मेरा परमेश्वर कोई नहीं। (सिंह 2001: 40)

आज की नारी अपनी स्वतंत्रता और समानता के लिए खड़ी हो रही है। आज के युग में स्त्री सर्वांग मुक्ति चाहती है। वह अब किसी प्रकार की मनमानी को सहन करने के लिए तैयार नहीं है। वह अपनी स्वतंत्रता और समानता के लिए खड़ी हो रही हैं। कवियों ने इसी बदलाव को अपनी रचनाओं में बखूबी व्यक्त किया है। आधुनिक नारी न केवल बंधी मर्यादाओं के गढ़ को तोड़ती है, अपितु सकारात्मक तरीके से अपने व्यक्तित्व की रचना भी करती है।

समकालीन हिन्दी कवियों ने नारी को मूल सृजनात्मक और संहारात्मक शक्ति के रूप में चित्रित किया है। आज की स्त्री आत्माभिव्यक्ति के साथ-साथ अपनी पहचान को स्थापित करने की कोशिश में है। अपनी शक्ति की पहचान का यह अर्थ कदापि नहीं है कि किसी अन्य को हीन समझा

जाए। स्त्री को अपने आप को पहचानने की वास्तविकता यही है कि वह कितना आत्मविश्वास ग्रहण करती है, और विषम परिस्थितियों में भी निडर होकर कार्य करती है तथा अपने आस-पास के परिवेश को स्वस्थ बनाती है। समकालीन हिन्दी कविता में इन्हीं अनुभवों को विस्तार दिया गया है तथा स्त्री की अस्मिता को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। इन्दिरा नूपुर की कविता में इसी भावना की अभिव्यक्ति दिखायी देती हैं –

मेरा भी तो मन है उड़ूँ, पंख तोलूँ

मुझे भी तो जीवन को जीने का हक है।

मेरे पंख काटो न मुझको मिटाओ

कि बनकर चिरैया चहकने मुझे दो

मै नन्हीं कली आज खिलने को आतुर

जरा फूल बनकर महकने मुझे दो। (नूपुर 2008:59)

आज की स्त्री अपने हिस्से की आज़ादी के लिए गुहार लगा रही है। वह समझ चुकी है कि जब तक वह सामाजिक रुढ़ियों रूपी बंधनों से मुक्त नहीं होगी, तब तक उसकी मुक्ति संभव नहीं है। समाज के प्रभुता सम्पन्न तत्वों की मानसिकता में बदलाव तभी संभव है, जब नारी स्वंय चेतना-सम्पन्न हो अथवा उत्पीड़न और शोषण के विरुद्ध प्रतिरोधात्मक समझ रखती हो । जब तक स्त्री स्वंय अपनी दृष्टि में अपने अस्तित्व को सार्थकता नहीं प्रदान करती, तब तक वह अपने भविष्य के द्वार अपनी कर्मठता से खोलने का साहस नहीं कर सकती और पराश्रित चेतना से मुक्त नहीं हो सकती। मुक्ति की आकांक्षा कुछ इस प्रकार व्यक्त हुई है –

कुछ और नहीं होता

तब कुछ और करने लगती हूँ

सोचती यह आसान होगा

सोचती इसमें मिल जायेगी कोई राह

थोड़ी दूर चलकर फिर अशक्त हो जाती हूँ

हाथ बांधे उधर मिलती है मेरी ही कोई कामना

महत्वाकांक्षा कोई गर्दन झुकाये

मिलती हैं आस्थायें ही बेमतलब खड़ी

आँसू भरे नयन मिलती हैं

बिखरी हुई कोई सुंदर इच्छा। (सिंह 2009:32)

स्त्री को प्रायः चयन का विकल्प नहीं दिया जाता। फलतः मुक्ति कामना में परिणत होकर उसकी गतिविधियाँ समाज और सत्ता से संघर्ष करती हैं। जहाँ एक ओर स्त्री समाज की अपेक्षाओं के अनुसार जीती है, वहीं दूसरी ओर अपनी असली पहचान को छुपाए रखती है। यह दोहरी जिंदगी उसे मानसिक तनाव देती है, लेकिन वह इसे स्वीकार करती है और अपने भीतर की शक्ति की पहचानती है। स्त्री स्वातन्त्र्य और स्त्री व्यक्तित्व की एक अलग पहचान के लिए यह आवश्यक है कि स्त्री की नैसर्गिक क्षमता का स्वाभाविक विकास हो, उसकी रुचियाँ, उसकी प्रकृति, जीवन को सुंदर बनाने की कल्पना और उसकी निर्माण क्षमता को सही दिशा मिले। समकालीन हिन्दी कविता में नारी की वास्तविक स्थिति एवं परिस्थितियों का चित्रण बड़ी ही ईमानदारी के साथ किया गया है, जिसमें शताब्दियों से अपनी नियति को बदलने के लिए बेचैन स्त्री संघर्ष कर रही है। इन कविताओं में नारी की भावनाओं, उनके सपनों और संघर्षों को व्यक्त किया गया है। ये कविताएँ न केवल व्यक्तिगत अनुभवों को साझा करती है, बल्कि सामाजिक मुद्दों पर भी ध्यान आकर्षित करती है। आज की नारी बहुत अधिक सशक्त बनकर उभरी हैं, अब वह पुरुष वर्ग की मानसिकता को चुनौती देने को तैयार खड़ी है।

निष्कर्ष :

समकालीन हिन्दी कविता में नारी की छवि एक सशक्त, स्वतंत्र और संघर्षशील व्यक्तित्व के रूप में उभर रही है, जो अपने हक और पहचान के लिए लड़ाई जारी रखे हुए है। समकालीन कवियों ने नारी की आत्माभिव्यक्ति की आकांक्षा के साथ-साथ आत्मसजगता को बदलने की क्षमता रेखांकित करने का प्रयास किया है, समाज को बदलने की क्षमता और मानसिकता को आगे बढ़ाने का प्रयास किया हैं और नारी की मुक्तिकामी सोच को वाणी प्रदान की है, जिससे उनका आत्मसम्मान बढ़ेगा और समाज में उनकी स्थिति उन्नत होगी।

वर्तमान युग में पुरानी आस्थाएँ नए रूप ग्रहण करने लगी हैं । आज की नारी ने अपने आत्म-बलिदान के चिरन्तन स्वरूप को बदलकर समानता का अधिकार चाहा हैं। इन कवियों ने यह स्पष्ट किया है कि कैसे नारी अपने अधिकारों और स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करती है, और यह प्रक्रिया उसे सामाजिक व ऐतिहासिक संदर्भ में एक नई पहचान देती है। नारी को समाज की सांस्कृतिक धारा को गरिमामय बनाने के लिए अपनी संकीर्ण प्रवृत्तियों से निकलना होगा, इसकी भी चर्चा कवियों ने की हैं।

इस प्रकार से यह स्पष्ट किया गया है कि आज की स्त्री अपने आप को बदलना चाहती है। अपनी पारंपरिक छवि से ही मुक्ति नहीं चाहती, बल्कि अपनी दुर्बलताओं पर भी विजय पाना चाहती है। इस तरह समकालीन हिन्दी कविता में स्त्री -विमर्श, नारी जीवन की व्यथा, दिनचर्या, सपना, संघर्ष, आशा और आकांक्षा सब कुछ है। नारी के विपर्यस्त संसार को अधिक गहनता से चित्रित करने हेतु कवियों ने इतिहास, समाज, परंपरा, धार्मिक रीति-रिवाजों, भारतीय संस्कृति के मूल्यों को अपनी समझ एवं अर्थों के साथ अपनी कविताओं में शामिल किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है समकालीन हिन्दी कविता में नारी की अस्मिता और उसकी भूमिका को स्पष्ट किया गया है, जो न केवल साहित्यिक मूल्य रखती है, बल्कि सामाजिक परिवर्तन की दिशा में भी एक महत्वपूर्ण कदम है। ये कविताएँ नारी की आवाज़ को सशक्त बनाने का कार्य करती है और उन्हें अपने अधिकारों के लिए लड़ने के लिए प्रेरित करती हैं। समकालीन हिन्दी कविता में नारी जीवन के विभिन्न पहलुओं का गहराई से वर्णन एवं विश्लेषण किया गया है, जो उसकी बहुआयामी पहचान को व्यक्त करता है।

ग्रंथ-सूची:

अनामिका. बीजाक्षर . नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन , 2019 .

कात्यायनी. दुर्गद्वार पर दस्तक . नई दिल्ली : परिकल्पना प्रकाशन , 1997 .

नूपुर, इंदिरा. नहीं, नहीं मैं 'केवल' नारी . दिल्ली : आलेख प्रकाशन , 2008 .

व्होरा, आशारानी. औरत कल आज और कल . कल्याण शिक्षा परिषद , 2011 .

—. नारी शोषण : आईने और आयाम . नई दिल्ली : नई दिल्ली प्रकाशन , 1994 .

सक्सेना, प्रगति. स्त्री की पराधीनता . नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन , 2002 .

सिंह, डॉ. गुरुचरण. समकालीन कविता का सच . कानपुर : विकास प्रकाशन , 2016 .

सिंह, सविता. अपने जैसा जीवन . दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन , 2009 .

—. नींद थी और रात थी. दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन , 2005 .

****

संपर्क-सूत्र :

सहायक प्राध्यापक

गुवाहाटी कॉलेज

Kalpu21.ghy@gmail.com

7002270759

शोध-चिंतन पत्रिका: विद्वानों द्वारा पुनरीक्षित ई शोध पत्रिका
वर्ष : 6 ; अंक: 10-11 ; जनवरी-दिसंबर,2025; पृष्ठ संख्या : 37-50

हरिशंकर परसाई के व्यंग्य में युगबोध

डॉ. दीक्षा गुप्ता

शोध-सार :

हरिशंकर परसाई का हिन्दी साहित्य जगत में एक विशिष्ट स्थान है। परसाई का रचना - संसार व्यंग्य साहित्य का पर्याय-सा ही प्रतीत होता है। उनका महत्व यही है कि उन्होंने आधुनिक युग की मांग को समझा और राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक समस्त पक्षों की विकृतियों को ध्यान में रखते हुए व्यंग्य साहित्य का निर्माण किया। वे अपने संघर्षपूर्ण जीवन में साहित्य के प्रति सदैव समर्पित रहे ।

बीजशब्द : *व्यंग्य, अन्याय, शोषण, अवसरवादिता, जमाखोरी, महंगाई, भ्रष्ट आचरण, सामाजिक अंतर्विरोध, राजनीतिक विद्रूपता, रुढ़ि , अस्वीकृति, असंगति*

प्रस्तावना :

हिंदी साहित्य जगत में परसाई का नाम बड़े आदर और सत्कार के साथ लिया जाता है। प्रत्येक युग की कुछ सीमाएं होती हैं और उन सीमाओं का खंडन व्यंग ही करती है। जब यह खंडन साहित्यिक रूप में अभिव्यक्त होता है, तो वह व्यंग्य साहित्य कहलाता है। परसाई का रचना संसार व्यंग्य साहित्य का पर्याय-सा ही प्रतीत होता है। इनका महत्व यही है कि उन्होंने आधुनिक युग की मांग को समझा और राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक समस्त पक्षों की विकृतियों को ध्यान में रखते हुए व्यंग्य साहित्य का निर्माण किया। उनके लेखन में रचना-शक्ति की गहनता है। उन्होंने शब्दों को सत्ता दिया, अर्थ दिया और उन्हें मार्मिक वक्त का एक क्षण बनाकर संधान के लायक बना दिया। उन्होंने अपने लेखन में तत्कालीन समय के व्यक्ति, समाज और देश में व्याप्त अन्याय, शोषण, अवसरवादिता, जमाखोरी, महंगाई, भ्रष्ट आचरण, सामाजिक अंतर्विरोध,

राजनीतिक विद्रूपताओं, रुढ़ियों, अस्वीकृतियों, असंगतियों को सामान्य जन के सामने लाने का सफल प्रयास किया। वे अपने लेखन काल में भारतीय जनमानस से सीधे तौर पर जुड़े हुए थे। परसाई के युग की लड़ाई अलग थी। गौर से देखें तो भारतेंदुकालीन रचनाकारों की लड़ाई अंग्रेजी साम्राज्यवाद के खिलाफ थी, जबकि परसाई जी की लड़ाई स्वदेशी साम्राज्यवाद के खिलाफ थी।

विश्लेषण :

परसाई का जीवन बहुत ही संघर्षपूर्ण रहा है। उनके जीवन में धैर्य को विचलित कर देने वाली कई घटनाएं घटी, परंतु वे हताश नहीं हुए । दु:ख और पीड़ा को सहते हुए परसाई जी का व्यक्तित्व निखरता चला गया। उनका मन कठिनाइयों को झेलते हुए लेखन की ओर झुकता चला गया। वे अपने लेखन के विषय में कहते हैं –

> मैं बहुत भावुक, संवेदनशील और बेचैन तबीयत का आदमी हूँ। सामान्य स्वभाव का आदमी ठंडे-ठंडे जिम्मेदारी भी निभा लेता है, रोते-रोते दुनिया से तालमेल नहीं बिठा लेता है और एक व्यक्तित्वहीन नौकरी पेशा आदमी की तरह जिंदगी साधारण संतोष से भी गुजार लेता है। मेरे साथ ऐसा नहीं हुआ। जिम्मेदारियां, दुखों की वैसी पृष्ठभूमि और अब चारों तरफ से दुनिया के हमले। इन सबके बीच सबसे बड़ा सवाल था अपने व्यक्तित्व और चेतना की रक्षा। तब सोचा भी नहीं था कि लेखक बनूंगा। पर मैं अपनी विशिष्ट व्यक्तित्व की रक्षा तब भी करना चाहता था। (वसुधा 1998:139)

समाज में फैली विसंगतियों पर साहित्य के माध्यम से किया गया प्रहार व्यंग कहलाता है। साधारण जीवन में इस प्रक्रिया को कटाक्ष या ताना देना भी कहते हैं। बाबूराम धोडू देसाई व्यंग्य के स्वरूप के विषय में कहते हैं –

> आज के मानव को सुसभ्य तथा सुसंस्कृत बनाने के लिए जहां समाज, न्यायालय, सरकार हार जाती है तब प्रस्तुत व्यंग पिता ही एक अमोघ शास्त्र होता है, जो उनको अपनी स्थिति तथा मार्ग का सही दिग्दर्शन करा सकता है। आज की यथार्थ जीवन का प्रतिबिंब व्यंग में

> ही है। गद्य साहित्य की अन्य विधाओं की भांति हिंदी में व्यंग्य विधा भी आधुनिक युग की देन है। (देसाई 1990:32)

व्यंग्य एक सचेतक है, जो अपनी कमजोरियों के प्रति सचेत करता है। व्यंग्यकार अपने तीक्ष्ण वाणों से समाज को जगाने का प्रयास करता है। परसाई ने भी बड़ी शालीनता से लिखते हुए समाज को जागृत करने का प्रयास किया। हरिशंकर परसाई व्यंग्य के विषय में कहते हैं –

> सच्चा व्यंग्य जीवन की समीक्षा होता है। वह मनुष्य को सोचने के लिए बाध्य करता है। अपने से साक्षात्कार करता है। चेतना में हलचल पैदा करता है और जीवन में व्याप्त मिथ्याचार, पाखंड, सामंजस्य और अन्याय से लड़ने के लिए उसे तैयार करता है। वह मनुष्य को बेहतर मनुष्य बनाना चाहता है। (परसाई 1985:249)

परसाई के निबंधों के विषय अनंत हैं। इन्होंने अपने निबंधों पर विविध विषयों पर लेखनी चलायी है। उनका मानना है कि 'सच्चा व्यंग्य जीवन की समीक्षा होता है, वह मनुष्य को सोचने के लिए बाध्य करता है।' यही कारण है कि इनका प्रारम्भिक निबंध-लेखन अखबारों के माध्यम से शुरू हुआ है, जो 'सुनो भाई साधो' नामक निबंध-संग्रह में संकलित है। उन्होंने तीन उपन्यास भी लिखे हैं- 'तट की खोज', 'जल और ज्वाला' तथा 'रानी नागफनी की कहानी'। 'तट की खोज' उपन्यास में परसाई ने पूरे उत्तर भारत के परिवेश का वर्णन किया है और स्त्री के विद्रोही स्वरूप को उभरा है। 'जल और ज्वाला' उपन्यास में पारिवारिक पृष्ठभूमि में सामाजिक परिदृश्य को प्रस्तुत किया गया है। 'रानी नागफनी की कहानी' उपन्यास में सामंती परिवेश और पात्रों के माध्यम से तत्कालीन समय के यथार्थ को प्रस्तुत किया है जिसमें सामाजिक पतन और राजनीतिक अवमूल्यन है। परसाई ने निबंध हो या उपन्यास जिस भी विधा को चुना, उसे अपने व्यंग से सार्थक और सफल बना दिया।

आधुनिक युग में नारी की स्थिति में बहुत अधिक परिवर्तन नहीं आया है। उसका शोषण आज भी जारी है, केवल शोषण का तरीके बदल गए है। परसाई ने अपने कई निबंधों में नारी की सामाजिक स्थिति का मूल्यांकन किया है। भारतीय समाज में नारी के प्रश्न पर कथनी और करनी में

बहुत बड़ा अंतर रखा गया है। नारी को सदैव ही कमजोर और असहाय मानकर उसकी सर्वत्र उपेक्षा की गई है। परसाई ने नारी की सामाजिक स्थिति को अच्छी तरह समझा। अंततः उन्होंने अत्यंत गहराई तक जाकर स्थिति का जायजा लिया तथा परत-दर-परत उसकी जांच पड़ताल की है। हमारे आधुनिक समाज में यदि स्त्री को थोड़ी भी आजादी मिल रही है, तो उसका कारण है- आर्थिक स्थिति। प्रतिदिन बढ़ती महंगाई के कारण नारी को बाहर जाने की छूट मिल गई है, किंतु उसके ऊपर आज भी बहुत सारी पाबंदियां है। 'संस्कारों और शास्त्रों की लड़ाई' नामक निबंध में परसाई ने इस विषय पर अपना विशद अन्वेषण प्रस्तुत किया है। इस निबंध की सरिता के पति महंगाई से त्रस्त होकर उन्हें नौकरी करने की इजाजत दे देते हैं तथा उन्हें स्वतंत्रता प्रदान कर देते हैं। 'संस्कारों और शास्त्रों की लड़ाई' में उनके संस्कार पराजित हो जाते हैं। अर्थशास्त्र संस्कारों पर हावी हो जाता है। चूंकि हमारे समाज में स्त्रियों को बाहर निकल कर कमाने की इजाजत नहीं है और यह एक संस्कार है। परंतु इस निबंध में यह संस्कार टूट जाता है, क्योंकि पति को महंगाई में संस्कार को छोड़ने पर मजबूर कर दिया। परसाई जी ने क लिखते है कि हमारे जमाने में नारी को जो भी मुक्ति मिली है, क्यों मिली है? आंदोलन से? आधुनिक दृष्टि से? उसके व्यक्तित्व की स्वीकृति से? नहीं, उसकी मुक्ति का कारण महंगाई है। नारी मुक्ति के इतिहास में यह वाक्य अमर रहेगा – एक की कमाई पूरी नहीं पड़ती।

परसाई जी ने मध्यवर्गीय परिवारों में रहने वाली नारी की स्थिति का सुंदर वर्णन किया है। वे जानते हैं कि मध्यवर्गीय व्यक्ति आधुनिकता की दौड़ में शामिल होना चाहता है, वहीं दूसरी तरफ मान्यताओं, परंपराओं और रुढ़ियों से लिपटा भी रहना चाहता है। इस तरह जीवन के दोहरे मापदंड रखने वाले परिवारों में सबसे दयनीय स्थिति एक स्त्री की होती है। 'वो जरा वाइफ है ना' निबंध में परसाई ने मध्यवर्गीय स्त्री की दशा का वर्णन किया है। आधुनिकता का ढोंग करने वाले ये पति स्वयं रूढ़ियों से जकड़े हुए हैं तथा मानसिक विकृति के शिकार है जो बात वे दूसरों के लिए कहते हैं स्वयं उसे करना उनके लिए बहुत भारी पड़ता है। ऐसे पतियों के जीवन में जो दोहरा मापदंड है इससे मध्यवर्गीय स्त्रियां पीसती रहती हैं। वे लिखते हैं –

> मैंने कहा- हमारी मुश्किल यह है कि वह हमेशा दूसरों की बीवी की खोज करते रहते हैं। दूसरे की स्टेज पर आ जाए अपनी ना आए फुलस्टॉप दूसरों की नहीं आती तो कहते हैं बड़े पिछड़े हुए लोग हैं। हम पिछड़े हुए नहीं हैं, जिन्होंने उस का मुरब्बा बनाकर घर में रख छोड़ा है। (परसाई 1985:106)

पत्नी को आधुनिक और शिक्षित बनाने वाले ये पति अंदर से असुरक्षित और भयभीत हैं, इन्हें पत्नी तथा मित्र किसी भी व्यक्ति पर भरोसा नहीं है। ऐसे समाज में नारी के स्वतंत्र अस्तित्व की घोषणा करना कितनी बेमानी बात है। इसी संदर्भ में अभी हाल ही में न्यूज़ में हमने सुना कि उत्तर प्रदेश की ज्योति मौर्या एसडीएम पद पर रहती है और उसे एसडीएम बनाने वाले उसके पति यह दावा करते हैं कि उसे पढ़ा-लिखा कर एसडीएम उन्होंने ही बनाया है ऐसे में वह जो चाहे उसके साथ सलूक कर सकते हैं परंतु एसडीएम वह घर के बाहर है घर में वह सिर्फ उनकी पत्नी है। इस घटना के बाद कई पति जो आधुनिकता का स्वांग भरते हैं, उन्होंने अपनी पत्नियों को पढ़ाना बंद कर दिया। यह कैसी आधुनिकता है जहाँ पति कुछ भी करें उस पर कोई पाबंदी नहीं लगती है, परंतु पत्नी को किसी भी घटना से प्रभावित होकर उसके सारे अधिकार और स्वतंत्रता छिन ली जाती है। ऐसे समय में परसाई याद आते हैं।

'विज्ञापन में बिकता नारी शरीर' नामक निबंध में परसाई ने आधुनिक नारी की स्थिति का सूक्ष्म विवेचन किया है। आज भी नारी का मूल्यांकन उसके शरीर के माध्यम से ही किया जाता है। नारी भी उपभोक्तावादी संस्कृति का माध्यम मात्र बनकर रह गई है। आज बड़ी से बड़ी कंपनियां अपने उत्पाद बेचने के लिए नारी के शरीर का प्रयोग करती हैं। वे विज्ञापनों के माध्यम से अपनी वस्तुओं की बिक्री नहीं बढ़ाती बल्कि नारी शरीर का विज्ञापन प्रस्तुत करती हैं। यह कितना घिनौना पक्ष है, जहां अहमियत वस्तुओं को नहीं, बल्कि नारी शरीर को दी जाती है। परसाई इस निबंध में लिखते हैं –

> मैंने कोई विज्ञापन ऐसा नहीं देखा जिसमें पुरुष स्त्री से कह रहा हो कि यह साड़ी या यह स्नो लो । अपनी चीज वह खुद पसंद करती है, मगर पुरुष की सिगरेट से लेकर टायर तक

> में दखल देती है। ऐसा लगता है सारी अर्थव्यवस्था पर नारी सौंदर्य ने कब्जा कर रखा है। (परसाई 1985:220)

हरिशंकर परसाई द्वारा सामाजिक विकृतियों का वर्णन भी उनकी कई रचनाओं में मिलता है। 'निंदा रस', 'कबीरा आप ठगाइए', 'स्नान और पगडंडियों का जमाना' आदि रचनाओं में विभिन्न प्रकार के चरित्रों का उद्घाटन किया गया है। समाज के उच्च पदों पर विराजमान महान व्यक्ति अक्सर समाज को बदलने की, नव-निर्माण करने की बात करते हैं। परंतु ऐसी बड़ी-बड़ी बातें करने वाले महान समाज के पुरोधाओं पर परसाई व्यंग करते हुए लिखते हैं –

> मेरे साथी ने कहा हमें समाज का नवनिर्माण करना पड़ेगा। बुद्धिवादी ने फिर हम दोनों को घूर कर देखा। बोला समाज का पहला फर्ज यह है कि वह अपने को नष्ट कर ले। सोसायटी मस्त डिस्ट्रॉय इट सेल्फ, यह जाति, वर्ण और रंग और ऊंच-नीच के भेदों से जर्जर समाज पहले मिटे तब नया बने। सोचा पूछूं – सारा समाज नष्ट हो जाएगा तो प्रकृति को मनुष्य बनाने में कितने लाख साल लग जाएंगे? (परसाई 1985:61)

आज भी हमारे समाज में जाति-पाति मौजूद है। परसाई हिंदू समाज में व्याप्त जाति-पाति को सबसे बड़ी बुराई मानते थे। उनके लिए दुनिया में एक ही जाति है वह है मनुष्य जाति। उन्होंने केवल नाम के लिए जाति-पाति का विरोध नहीं किया है, बल्कि उन्होंने व्यवहारिक स्तर पर इसे माना भी है। उन्होंने 'प्रेम की बिरादरी', 'प्रेम प्रसंग में फादर', 'ऊंची जातियों का आरक्षण', 'हरिजन को पीटने का यज्ञ' आदि निबंधों में अपने तीखे व्यंग्य के साथ विचार व्यक्त किए हैं। उन्होंने केवल सतही स्तर पर अपने विचार नहीं प्रस्तुत किए हैं, बल्कि उसका ठोस आधार भी बताया है। आज के इस वैज्ञानिक युग में इस तरह की मान्यताएं ना केवल समाज को जर्जर बनाती हैं बल्कि उसे अंदर से खोखला भी करती हैं। 'हरिजन को पीटने का यज्ञ' निबंध में इंदौर के पास एक करोड़ की लागत से एक यज्ञ हुआ। उसी के पास से एक हरिजन दूल्हा घोड़े पर सवार होकर निकला, तो सवर्णों ने दूल्हे और बारातियों को पीट दिया। हमारे समाज में इस तरह की घोर जातिवादी

मानसिकता है कि वह एक दलित की परछाई भी बर्दाश्त नहीं कर सकती है। परसाई इस पर अपने तीखे व्यंग्य बाण चलाते हुए कहते हैं –

> क्या यज्ञ के प्रताप से ही दूल्हा पीटा? दोनों में संबंध है, यज्ञ करने और कराने वाले ऊंची जाति के लोग होते हैं फुलस्टॉप वैदिक युग में ब्राह्मण ने यज्ञ की तकनीक पर एकाधिकार कर लिया था। तकनीक का मामला है, तब क्षत्रियों ने तत्व चिंतन से ब्राह्मणों को पीटा। मगर ब्राह्मण उस्ताद है। उसने फिर कर्मकांड फैलाया और सारे समाज को जकड़ लिया। (परसाई 1985:192)

परसाई समाज के सबसे निम्न तबके मजदूर वर्ग का यथार्थ चित्रण अपने निबंधों में करते हैं। परसाई ने मजदूरों को उनके हक के लिए जाग्रत किया है। मजदूरों को उनका हक दिलाने के लिए प्रतिबद्ध परसाई जी ने उनके साथ हुए अन्याय का प्रतिकार करना चाहा है। हमारे समाज के पूंजीपति वर्ग अपने भाषणों में कहते तो जरूर हैं कि वह मजदूरों को उनका हक देंगे, सम्मान देंगे, परंतु व्यवहार में ऐसा नहीं होता है। हमारे समाज में दोहरा मापदंड शुरू से रहा है। परसाई ने अपने कई निबंध हो जैसे 'मुर्दे का मूल्य', 'जाति निरपेक्ष बलात्कार', 'अतिक्रांतिकारी', 'ऊंची जातियों का आरक्षण', 'सबको सन्मति दे भगवान' आदि में मजदूरों की स्थिति, दशा तथा शोषितों द्वारा उनके शोषण की प्रवृत्ति पर पूरी तरह से विचार करते हुए समाज के सुविधाभोगी वर्ग पर व्यंग्य भी किया है।

'अति क्रांतिकारी' निबंध में परसाई उन मार्क्सवादियों का पर्दाफाश करते हैं, जो क्रांति की बातें तो करते हैं, किंतु अपने सिद्धांतों को व्यावहारिक स्तर पर लागू नहीं करते । सारी दुनिया के मजदूरों की चिंता करने वाले क्रांतिकारी महोदय अपने घर में ही न्यूनतम मजदूरी तय नहीं करते । ऐसे क्रांतिकारी महोदय की कलई खोलते हुए लेखक लिखते हैं –

> मैंने पूछा- कामरेड आपके फार्म पर मजदूर तो होंगे, उन्हें मिनिमम वेज आप क्या देते हैं? मुझे पता नहीं हिसाब पिताजी देखते हैं। कामरेड, खेत मजदूरों से आप काम लेते हैं और

> मजदूरी पिताजी पर छोड़ देते हैं। आपके पिताजी न्यूनतम वेतन ही देते होंगे, यह पक्का है और आप अपने पिता से न्यूनतम मजदूरी दिलाते नहीं है तो मार्क्सवाद, लेनिनवाद के हिसाब से क्रांति के लिए हमेशा दूसरे के बाप की तलाश करनी चाहिए। अपने बाप को खून चूसने की सुविधा दी जाती है, क्रांति में। उस खून का एक हिस्सा क्रांतिकारी बेटा भी पीकर सर्वहारा का नेतृत्व करने बढ़ जाता है। (परसाई 1985:168)

मजदूरों को न्याय न दिलाने वाले यह क्रांतिकारी झूठ, ढोंग और दिखावे का जामा पहने रहते हैं। 'जाति निरपेक्ष बलात्कार' निबंध में लेखक नेताओं की हकीकत बताते हुए लिखते हैं –

> हरिजन सुरक्षा में हमने कितनी प्रगति की है कि चार हरिजन औरतों से बलात्कार होता है, तो लगे हाथ धोकर हरिजन औरतों से भी कर लिया जाता है। सरकार ने अत्याचारी यों को इतना सिखा ही दिया है कि सिर्फ हरिजन औरतों से बलात्कार मत किया करो, साथ में संतुलन बनाए रखने के लिए गैर हरिजन औरत को भी निपटाया करो। (परसाई 1985:115)

स्वतंत्रता न जाने कितने त्याग और बलिदानों के बाद हमें मिली, परंतु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद लोगों का मोहभंग हो गया। देश में राजनीतिक उथल-पुथल घर कर गई। स्थिति पहले से अधिक कष्टदायक हो गई अंग्रेजों के शासन काल से अधिक भारतीय सत्ताधारियों के समय अंधेर नगरी की स्थिति उत्पन्न हो गई। परसाई इस विषय में कहते हैं –

> अंग्रेज छुरी कांटे से प्लेट में रखकर इंडिया को खाते रहे। देसी साहब बचे भारत को खाने लगे। देश 1947 में स्वतंत्र हो गया। अहिंसक क्रांति कहलाए। विदेशियों ने ट्रांसफर ऑफ़ पॉवर सत्ता का हस्तांतरण कहा। वास्तव में ट्रांसफर ऑफ डिश हुआ। परोसी थाली एक के सामने से दूसरे के सामने आ गई। वे देश को पश्चिमी सलाद के साथ खाते थे और देसी सत्ताधारी जनतंत्र के अचार के साथ खाने लगे। (परसाई 1970:14)

परसाई की दृष्टि राजनीति में व्याप्त हर उस असंगति पर गई है जिससे आज का सामान्य जन पीड़ित और शोषित है। उषा शर्मा जी के शब्दों में कहें –

> विकृत राजनीतिक परिवेश के प्रति हरिशंकर परसाई के मन में अत्यधिक आक्रोश है जिसकी खींज और भड़ास को उन्होंने व्यंग के शिल्प माध्यम और साधनों का भरपूर प्रयोग करते हुए निकाला है और लक्ष्यों पर चुन-चुन कर प्रहार किए हैं। (शर्मा 1985:139)

परसाई ने साहित्य और राजनीति के संबंधों को भी अच्छी तरह समझाया है। उनका मानना है कि जो व्यक्ति राजनीति के जितना निकट है, उसका साहित्य उतना ही अधिक सार्थक होगा। कोई भी व्यक्ति चाह कर भी राजनीति से दूर नहीं हो सकता है। वोट देना भी राजनीति का ही एक हिस्सा है। लेखक का मानना है कि साहित्यकार का दायित्व है कि सत्ता-लोलुप और भ्रष्ट लोगों से राजनीति को मुक्त कराकर उसे सामान्य जनता के चरणों में प्रतिष्ठित करें। वे कहते हैं –

> लेखक, अध्यापक, बुद्धिजीवी अगर राजनीति से बाहर रहे, तो भीतर कौन बचे? आप जैसे अनपढ़, गवार, असभ्य, असंस्कृत, भ्रष्ट लोग। यह देश ऐसे लोगों के हाथ में सौंपना है या नहीं यह भी तो सोचना पड़ेगा। (परसाई 1985:292)

'भोलाराम का जीव' कहानी में परसाई ने सरकारी संस्थानों, दफ्तरों तथा राजनीतिक क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार, नौकरशाही, लालफीताशाही का उद्घाटन किया है। इसके साथ ही भ्रष्टाचार के कारण आम आदमी की पीड़ा, मानसिक क्लेश, अभावों से भरी जिंदगी की त्रासदी को भी उद्घाटित किया है। भोलाराम के जीव की तलाश में नारद पृथ्वी पर आते हैं और अनेक स्थानों पर भटकने के बाद दफ्तर पहुंचते हैं और वहां के कर्मचारियों की रिश्वत लेकर काम करने की पद्धति से हैरान हो जाते हैं, तब उन्हें पता चलता है कि पेंशन पाने के लिए भोलाराम ने रिश्वत नहीं दी थी। आत्मा फाइलों में ही जकड़ी है। चित्रकूट के द्वारा परसाई भ्रष्टाचार की स्थिति का वर्णन करते हैं –

> महाराज आजकल पृथ्वी पर इस प्रकार का व्यापार बहुत होता है, लोग दोस्तों को फल भेजते हैं और उसे रास्ते में ही पार्सल वाले उड़ा लेते हैं। होजरी के पार्षदों के मोजे रेलवे के

> अफसर पहनते हैं, मालगाड़ी के डिब्बे के डिब्बे रास्ते में कट जाते हैं। एक बात और हो रही है। राजनैतिक दलों के नेता विरोधी नेता को उड़ाकर कहीं बंद कर देते हैं। कहीं भोलाराम के जीव को किसी विरोधी ने, मरने के बाद भी खराबी के लिए तो नहीं उड़ा दिया। (https://www.hindisamay.com/content/429/1/%)

आजकल सरकारी काम करवाने में विभिन्न तरह के अपव्यय करने पड़ते हैं। कोई भी सरकारी काम आसानी से नहीं हो सकता है। राशन कार्ड बनवाना हो तो पैसे खिलाओ, पैन कार्ड बनवाना है तो पैसे खिलाओ, सरकारी मुआवजा लेना है तो मुआवजे से हिस्सा दो यानी घुस दो, किसी परिवार का व्यक्ति दुर्घटना ग्रस्त हो गया है तो मुआवजे को पाने के लिए सरकारी दफ्तरों के चक्कर काटो और घुस दो अर्थात कोई भी कार्य एक आम आदमी बिना अपव्यय किए पूर्ण नहीं कर सकता है। परसाई अपने निबंध 'ग्रीटिंग कार्ड और राशन कार्ड' में सरकारी कामों में धन के अपव्यय, परेशानी और अकर्मण्यता पर व्यंग्य किया है। उनके 'विधायकों की महंगी गरीबी', 'नया खून पुराना खून', 'हरि अनंत हरि कथा अनंता', 'कहाँ है भारत-भाग्य विधाता', 'राजनैतिक स्लो पोयज़निंग', 'छुट्टीवाला शोक', 'दर्द की दवा' आदि में राजनीति व्यंग्य मिलता है।

जनता, नेताओं के लिए बस वोट बैंक है। नेताओं को चुनाव आने पर जनता की याद आती है, परंतु जीतने के बाद, शपथ ग्रहण करते ही वे भूल जाते हैं कि वह जिस पद पर आसीन हुए हैं, उसके दायित्व क्या हैं। सत्ता पर बैठते ही जनता नेताओं के लिए सिरदर्द बन जाती है और जनता की समस्याएँ एक खिलौना बनकर रह जाती है। इस स्थिति पर परसाई जी कहते हैं –

> राजनीतिज्ञों के लिए हम नारे और वोट हैं, बाकी के लिए हम गरीबी, भूख, बीमारी और बेकारी हैं। मुख्यमंत्रियों के लिए हम सिरदर्द हैं और उनकी पुलिस के लिए हम गोली दागने के निशाने हैं। (परसाई 1985:57)

परसाई भ्रष्ट नेताओं से समाज को, सामान्य जन को बचाना चाहते हैं। वे उनके दिखावेपन, छल-कपट को समाज से दूर करना चाहते हैं और कहते हैं –

> अगर वैज्ञानिक कुछ काम करना चाहते हैं तो एक काम करें। प्रदूषण को रोकने के उपाय करें। इनसे जनता नेताओं के शरीर से झूठ, फरेब, छल, कमीनापन की दुर्गंध निकलकर वातावरण में समा रही है। इसमें जहर है, बीमारी फैलेगी। वैज्ञानिक इस जनता प्रदूषण को किसी तरह रोके। (परसाई 1985:122)

इस व्यंग्य के माध्यम से परसाई ने राजनीतिज्ञों के चेहरों से मुखौटे उतार कर उनके यथार्थ को पाठक के समक्ष प्रस्तुत कर दिया है। इसके अतिरिक्त मंत्री-नेताओं के काले धंधे, सांप्रदायिक दंगे करवाने, जनता की आंखों में धूल झोंकने, विलासी मंत्रियों के लिए सचिवालय में विश्राम घर बनाए जाने की बात और अन्य अनेक पहलुओं पर परसाई के व्यंग्य में दिखाई पड़ते हैं।

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। स्वतंत्रता के बाद जिस भारतीय संस्कृति को और अधिक फलना-फूलना था वह भी विसंगतियों का शिकार हो गई। नई पीढ़ी ने पश्चिमी संस्कृति का इतना अंधानुकरण किया की पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ी में विवाद की स्थिति उत्पन्न हो गई। भारतीय संस्कृति पर पश्चिमी संस्कृति के हुए हमले जैसे आधुनिकता, फैशन-परस्ती, संगीत, नृत्य, रेस्ट्रा, शराब, अंग्रेजी भाषा, रहन-सहन हर पहलू पर परसाई की दृष्टि गई है। वे कहते हैं –

> हमारी संस्कृति हजारों वर्ष पुरानी है और महान है। पूछा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति क्या है? भारतीय संस्कृति कोई खाने की चीज नहीं है, पीने की चीज नहीं है। भारतीय संस्कृति, संस्कृति है और भारतीय है। (परसाई 1985:74)

आज के समाज की संस्कृति को परसाई ने कई नाम दिए हैं- सड़ी सुपारी की संस्कृति, बनिया संस्कृति और जेबकट की सभ्यता आदि। भारतीय संस्कृति का पतन किस तरह हो रहा है, इस पर परसाई ने की व्यंग्य दृष्टि गई है।

परसाई आधुनिक पीढ़ी के हिंदी के बजाय अंग्रेजी को प्रश्रय देने पर भी व्यंग करते हैं। अंग्रेजी भाषा का प्रभाव हमारे भारत में बढ़ता ही जा रहा है। मध्यवर्ग अंग्रेजी को धड़ल्ले से अपना रहा है। अंग्रेजी जीवन का अभिन्न अंग बनती जा रही है। भाषा में जबरदस्ती अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग पर परसाई कहते हैं –

> कल तो रीगल गए थे फिल्म देखने। ओ रियली? ओ वंडरफुल!! हमें तो अब एक अच्छा कुक मिल गया है। ओ रियली? ओ वंडरफुल!!...सोचा, अगर एक कहे कि हमने तो आज खाना खाया था तो दूसरी कहेगी- ओ रियली? ओ वंडरफुल!! (परसाई 1985:170)

संस्कृति के नाम पर आज छल-छद्म, भ्रष्टाचार, अनैतिकता, आडंबर आदि पनप रहे हैं। परसाई प्राचीन संस्कृति को जीवित रखना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि नई पीढ़ी भी संस्कृति के अर्थ को समझें। संस्कृति के नाम पर दिखावा या छल-कपट न करें। वे उस संस्कृति को जिंदा रखना चाहते हैं जिसका लोहा पूरा विश्व मानती थी।

परसाई ने शिक्षा व्यवस्था पर भी व्यंग्य किया है। आज समस्त शिक्षा प्रणाली अस्वस्थ है। हर पहलू में व्याप्त विसंगतियां परिवर्तन की मांग कर रही हैं, परंतु परिवर्तन की बातें तो होती है पर परिवर्तन होता नहीं है। इस पर परसाई कहते हैं –

> वर्तमान शिक्षा पद्धति अत्यंत दूषित है। इसमें आमूल परिवर्तन करना चाहिए। भारत के राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, शिक्षा मंत्री, राज्य के मंत्री, नेता, व्यापारी, सब कह रहे हैं शिक्षा पद्धति को बदलना चाहिए। बदलना चाहिए ही- बात राष्ट्रपति ने कम से कम 50 बार कही होगी, पंडित नेहरू ने 200 बार और हर मंत्री ने कम से कम 500 बार - बदलना चाहिए! बदलना चाहिए! (परसाई 1985:364)

इसके साथ ही परसाई ने वर्तमान परीक्षा पद्धति, शिक्षा केंद्रों में व्याप्त भ्रष्टाचार, शिक्षा प्रणाली में नकल, नंबर बढ़वाना, पेपर लीक करवाना आदि पर भी अपने तीक्ष्ण व्यंग्य बाण चलाए हैं।

कुछ ही सालों में शोध कार्य बहुत धड़ल्ले से हुए हैं। बेरोजगारी के कारण भी इसे बहुत प्रश्रय मिला है। परसाई जी डॉक्टरेट डिग्री पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं –

> विश्वविद्यालय में रिसर्च करने लगा। वह नौकरी नहीं है, फिर भी इज्जत देती है। बहुत से लोग पुलिस के डर से रिसर्च करते हैं। एम. ए. करने से नौकरी मिलने तक जो काम किया जाता है उसे रिसर्च कहते हैं। वह दफ्तर जाने से पहले किया गया हरि स्मरण है। इसलिए अधिकांश शोध प्रबंध विष्णु सहस्त्रनाम है यानी उसमें एक ही बात हजार तरीके से कही जाती है। (परसाई 1985:111)

निष्कर्ष :

हरिशंकर परसाई के अपने जीवन की विसंगतियाँ उनके अपने साहित्य में प्रकट हो उठी हैं। उन्होंने आम आदमी को बहुत करीब से देखा और उनके अभाव और दुखों को आत्मसात करते हुए शासन और सत्ता के खिलाफ अपनी बुलंद आवाज उठाई। मानव के प्रति सहानुभूति और व्यवस्था में परिवर्तन के लिए परसाई ने राजनीति, समाज, धर्म, अर्थतंत्र, संस्कृति, साहित्य और मानव-प्रकृति संबंधी व्यंग्य साहित्य का निर्माण किया। मानव और उसके आसपास के परिवेश की प्रत्येक विसंगति हरिशंकर परसाई के व्यंग्य की लक्ष्य बनी है। वे एक ऐसे व्यंग्यकार हैं जिन्होंने व्यंग्य विधा को एक निश्चित स्वरूप प्रदान किया है। इसलिए उनके साहित्य में व्यंग का अध्ययन वस्तुतः व्यंग्य विधा की गहरी पहचान करवाता है। व्यंग हरिशंकर परसाई का स्वभाव है। उन्होंने 'वैष्णव की फिसलन' व्यंग्य की भूमिका में कहा है- यह गंभीर विचारणीय लेख हैं, पर अपने स्वभाव के कारण इनमें जगह-जगह व्यंग्य भी आ गया है। परसाई की अधिक सफलता, प्रतिष्ठा और लोकप्रियता का कारण यह है कि व्यंग्य उनके साहित्य में गौण रूप में नहीं बल्कि वह रचना के कण-कण में समाया हुआ है

और रचना का मूल आधार बना है। उन्होंने निराला की परंपरा को सच्चे अर्थों में उद्दीप्त किया, भारतेंदु की परंपरा को विकसित किया और कबीर के व्यंग्य को व्यापकता प्रदान की।

ग्रंथ-सूची :

वसुधा 41 (1998).

देसाई, बाबूराम धोडू. हिन्दी व्यंग्य विधा : शास्त्र और इतिहास . कानपुर : चिंतन प्रकाशन , 1990.

परसाई, हरिशंकर. ठिठुरता हुआ गणतंत्र . नई दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस , 1970 .

—. परसाई रचनावली . नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन , 1985 .

शर्मा, उषा. स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी निबंध साहित्य में व्यंग्य . दिल्ली : आत्माराम एंड संस , 1985 .

****

संपर्क-सूत्र :

डॉ. दीक्षा गुप्ता

बंगबासी इवनिंग कॉलेज

हिंदी विभाग,

स्टेट ऐडेड कॉलेज टीचर्स-I, बंगबासी इवनिंग कॉलेज,

कोलकाता, पश्चिम बंगाल

ईमेल- guptadiksha08@gmail.com

मो. : 8013064075

शोध-चिंतन पत्रिका: विद्वानों द्वारा पुनरीक्षित ई शोध पत्रिका
वर्ष : 6 ; अंक: 10-11 ; जनवरी-दिसंबर,2025; पृष्ठ संख्या : 51-61

‘1966 मिज़ोरम : ङिहल्ह हर कन तुआर’ उपन्यास में मिज़ो विद्रोह की पृष्ठभूमि

जूदिथ ज़ोपरी

शोध-सार :

‘1966 मिज़ोरम : ङिहल्ह हर कन तुआर’ उपन्यास मिज़ो भाषा का एक उपन्यास है, जो भारत के पूर्वोत्तर राज्य मिज़ोरम के इतिहास की सबसे महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटना पर आधारित है, ‘मिज़ो रमबुआई’ अर्थात् ‘मिज़ो विद्रोह’ कहा जाता है। मिज़ो विद्रोह लगभग दो दशकों (1966-1986) तक चला। मिज़ो विद्रोह मिज़ो इतिहास की सबसे भयावह तथा अशांत ऐतिहासिक घटनाओं में से माना जाता है। माफेली द्वारा लिखित ‘1966 मिज़ोरम: ङिहल्ह हर कन तुआर’ उपन्यास सन् 2010 ई. में प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में मिज़ो विद्रोह के दौरान मिज़ोरम के ईस्ट लुङदार गाँव के माध्यम से भारतीय सेना और मिज़ो भूमिगत सेना, दोनों के हमलों से उत्पन्न मिज़ो लोगों द्वारा झेली गई अपार पीड़ा को तथ्यपरक एवं जीवंत रूप से चित्रित किया गया है। साथ ही, विद्रोह के दौरान अत्याचारों की सबसे बुरी शिकार महिलाओं की आवाज को भी उठाया गया है।

बीजशब्द: *पूर्वोत्तर, मिज़ो विद्रोह, पीड़ा, भारतीय सेना, मिज़ो भूमिगत सेना*

प्रस्तावना:

माफेली द्वारा रचित ‘1966 मिज़ोरम: ङिहल्ह हर कन तुआर’ उपन्यास एक मिज़ो ऐतिहासिक उपन्यास है, जिसमें मिज़ो इतिहास की सबसे महत्त्वपूर्ण एवं भयावह राजनीतिक घटना मिज़ो रमबुआई अर्थात् मिज़ो विद्रोह का चित्रण किया गया है। उपन्यास के शीर्षक का अनुवाद है- ‘1966 मिज़ोरम: हमने जो अविस्मरणीय पीड़ा झेली’, जो कल्पना और ऐतिहासिक वास्तविकता के साथ संघर्ष की इस अवधि के दौरान मिज़ो लोगों के दर्द, संघर्ष और लचीलेपन जैसे उपन्यास के केन्द्रीय विषयों को दर्शाता है।

इस उपन्यास का कथानक मार्च,1966 के एम.एन.एफ विद्रोह के दौरान होता है, जब एम.एन.एफ ने भारतीय सरकार के विरुद्ध मिज़ोरम की स्वतंत्रता के लिए सशस्त्र विद्रोह शुरू किया था। इस विद्रोह के जवाब में भारत सरकार ने मिज़ोरम में सैन्य बल भेजे, जिसके परिणामस्वरूप हिंसक झड़पें, हवाई हमले और गाँवों का जबरन स्थानांतरण हुआ। लगभग बीस वर्षों तक चले इस संघर्ष ने सामान्य मिज़ो जनता पर विनाशकारी प्रभाव डाला, जिससे लोगों ने पीड़ा भुगती, भय के माहौल में रहे और उन्हें अपार हानि हुई। माफेली का उपन्यास एम.एन.एफ. या भारत सरकार की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं के बजाय इस संघर्ष के मानवीय पक्ष पर केंद्रित है।

'1966 मिज़ोरम: ङिहल्ह हर कन तुआर' उपन्यास में एम.एन.एफ. को स्वतंत्रता सेनानी के रूप में महिमामंडित करने के बजाय भारतीय सेना और एम.एन.एफ.-दोनों की संतुलित आलोचना को लेखिका द्वारा प्रस्तुत किया गया है। भारतीय सेना की प्रतिक्रिया में बमबारी, गाँवों का समूहीकरण और नागरिकों के साथ किये गए दुर्व्यवहारों को शामिल करते हुए स्वतंत्रता के लिए लड़ते हुए एम.एन.एफ. विद्रोहियों के कुछ सदस्यों के कार्य जैसे गाँववालों को धमकाने, गाँव में प्रवेश करने और उनके लिए कठिन परिस्थितियाँ पैदा करने जैसे कृत्यों का भी शामिल किया गया है।

मिज़ो लोगों के लिए 'रमबुआई' शब्द का एक महत्त्वपूर्ण और मार्मिक अर्थ होता है। हिन्दी भाषा में मिज़ो शब्द 'रम' का अर्थ है 'भूमि' और 'बुआई' का अर्थ है 'अशान्ति'। हिन्दी में 'रमबुआई' शब्द का अर्थ 'विद्रोह' अर्थात् मिज़ो रमबुआई के लिए 'मिज़ो विद्रोह' शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। दो दशकों तक चले मिज़ो विद्रोह ने 'रमबुआई साहित्य' को जन्म दिया। यह उभरती हुई साहित्यिक शैली सन् 1966 ई. में घटित भारत से स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए मिज़ो विद्रोह और मिज़ोरम के बीस काले वर्षों को प्रस्तुत करता है।

'1966 मिज़ोरम: ङिहल्ह हर कन तुआर' उपन्यास की लेखिका माफेली एकमात्र ऐसी मिज़ो लेखिका हैं, जिन्होंने मिज़ो विद्रोह केंद्रित मिज़ो उपन्यास की रचना की है। इस तरह उन्होंने मिज़ो विद्रोह से संबंधित साहित्य रचनेवाले उपन्यासकारों में अपना एक विशिष्ट स्थान बनाया है।

विश्लेषण :

मारगरेट चो. ज़ामा और सी. ललओमपुईअ वानचिअऊ ने रमबुआई साहित्य को इस प्रकार परिभाषित किया है –

> रमबुआई साहित्य का शाब्दिक अनुवाद है 'अशांत भूमि का साहित्य'... अर्थात् मिज़ो नैशनल फ्रन्ट मूवमेंट के अशांत इतिहास से उत्पन्न कथा, गैर-कथा, गीत और कविताएँ, चाहे वे एम.एन.एफ या गैर-एम.एन.एफ कथाएँ हो, वे इस शैली की रचना में शामिल हैं जो बढ़ रही है और आने वाले वर्षों में ऐसा करना जारी रखने की संभावना है। (Zama 2016:57)

मिज़ो विद्रोह 1 मार्च, सन् 1966 ई. में मिज़ोरम की एक नई राजनीतिक दल मिज़ो नैशनल फ्रन्ट (एम.एन.एफ.) के अध्यक्ष पु ललदेङआ के नेतृत्व में भारतीय संघ से मिज़ोरम की स्वतंत्रता की घोषणा के साथ शुरू हुई और 30 जून सन् 1986 ई. को नयी दिल्ली में भारत सरकार और एम.एन.एफ. के बीच 'मिजोरम शांति समझौते' (Mizoram Peace Accord) पर हस्ताक्षर के साथ समाप्त हुआ। मिज़ोरम में इस विद्रोह की जड़ें 1940 के दशक में, ब्रिटिश राज से भारत की स्वतंत्रता की घोषणा में देखा जा सकता है। "लुशाई हिल्स की प्रशासनिक रिपोर्ट 1945-1946" में उल्लेख मिलता है –

> भारत में स्वतंत्रता की ओर आंदोलन के साथ, लुशाई हिल्स में राजनीतिक ताकतें जागृत होने लगीं। (Chawngsailova 2007:22)

'1966 मिज़ोरम: ङिहल्ह हर कन तुआर' उपन्यास में मिज़ो विद्रोह के उथल-पुथल भरे दौर में मिज़ोरम का ईस्ट लुङदार गाँव में 'रमबुआई' के सबसे काले और अंधकारमय समय का तथ्यपरक वर्णन किया गया है। उपन्यास की कथा मिज़ोरम में अशान्ति की भावना से शुरू होती है, जब एम.एन.एफ. के प्रेसीडेंट ललदेङा के नेतृत्व में एम.एन.एफ. की स्वतंत्रता की माँग को लेकर मिज़ो लोगों से समर्थन मिलता हैं । देशभक्ति और उम्मीद से भरे कई मिज़ो युवा इस विद्रोह में शामिल होते हैं और वॉलन्टियर्स (एम.एन.एफ. की सेना) के रूप में दाखिल होते हैं । उनका यह मानना था कि मिज़ोरम भारत से स्वतंत्रता प्राप्त कर सकता है । उपन्यास में 'शाङथङा' के माध्यम से दिखाया गया है –

> बेकार की बात है। तुम इतना क्यों डर रही हो? वे अधिक देर तक यहाँ नहीं टिकेंगे। ह्नम सिपई जल्द ही भारतीय सिपई को यहाँ से बाहर खदेड़ देगी। (मफेली 2010:11)

लेखिका माफेली ने ऐतिहासिक तथ्यों के साथ इस उपन्यास में 5 मार्च, सन् 1966 ई. की मिज़ोरम की महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना का भी वर्णन किया है, वह है मिज़ोरम की राजधानी आइजोल शहर में भारतीय सेना द्वारा की गई बमबारी । विद्वान C. Zama ने कहा है –

> 4-5 मार्च, 1966 को एक दुर्लभ और विवादास्पद कदम के रूप में, भारतीय सरकार के आदेश से भारतीय वायु सेना ने विद्रोहियों के गढ़ों को नष्ट करने के लिए लड़ाकू विमानों का उपयोग किया और आइज़ोल पर बमबारी की। इस हवाई बमबारी के कारण आइज़ोल के कई महत्त्वपूर्ण हिस्से नष्ट हो गए। (Zama 2014:32)

उपन्यासकार कहती हैं –

> 5 मार्च, 1966 ई. को मिजोरम की राजधानी आइज़ोल पर एक विमान से बमबारी की गयी। कुछ ही देर में यह खबर पूरे मिज़ोरम में फैल गयी। (मफेली 2010:9)

ईस्ट लुङदार गाँव एम.एन.एफ. सेना का सबसे बड़ा मुख्यालय, 31वें डिवीजन का मुख्यालय था। 15 नवम्बर, 1966 ई. को, सुबह करीब 2 बजे, ललदेङा के आदेश पर कुछ मिज़ो विद्रोहियों ने उस दिन ही चमफाई से ईस्ट लुङदार गाँव में आए भारतीय सेना पर गोलीबारी शुरू कर दी। मिज़ो विद्रोहियों का मानना था कि उनसे कम संख्या वाली भारतीय सेना को वे हरा लेंगे, क्योंकि सेना के पास उस समय कोई सुरक्षित जगह नहीं थी।

16 नवम्बर, 1966 ई. को साईलुलाक गाँव में मिज़ो विद्रोहियों के वरिष्ठ अधिकारियों की बैठक होने वाली थी, जिसमें ललदेङा भी शामिल होने वाला था। मिज़ो विद्रोहियों को ईस्ट लुङदार गाँव में भारतीय सेना के आने की खबर भी थी, इसलिए ललदेङा ने भारतीय सेना पर गोलीबारी करने का आदेश दिया था। उन्होंने उस समय चैन की नींद सोने वाले गाँववालों की परवाह किये बिना सुबह की 2 बजे से भोर तक गोलीबारी जारी रखी। (MNF General Headquarters, 848 & 899) इस पूरे ऐतिहासिक तथ्य का वर्णन उपन्यास में लेखिका द्वारा किया गया है –

> अन्य रातों की तरह 15 नवम्बर की रात भी वे एक अच्छा सपना देखने की उम्मीद में सोने चले गए। पूरा गाँव शांत था।... अपने प्यार के कारण चिंतित मन से उसने गहरी सांस ली और तभी दारपुई को धमाके की आवाज सुनाई पड़ी।... अब थोड़ी-थोड़ी देर में ही विस्फोट की आवाज़ सुनाई पड़ने लगी। निःसंदेह यह गोली चलने की आवाज थी। रोउछुआहआ ने तुरंत ही यह अनुमान लगा लिया कि यह ज़रूर भारतीय सेना के खिलाफ ह्नम सिपई की गोलीबारी की आवाज़ है।... लेकिन, समय बीतने के साथ-साथ गोलीबारी की आवाज गाँव के अंदर से आने लगी। (मफेली 2010:12-13)

आगे उपन्यास में कहा गया है –

> बंदूकें लगातार चलने लगीं। गाँववालों की घबराहट और बेचैनी बढ़ने लगी। चिल्लाने और गोली चलने की आवाजें फिर से आने लगीं।... (मफेली 2010:14)

उपन्यास में एक और जगह वर्णन आता है –

> उन्हें लगा कि केवल सौ भारतीय सेना, जिनका अभी तक शिविर और ट्रेंच भी नहीं है, जो दोपहर को ही पहुँचे थे और थके हुए थे - को गोलीबारी में शायद हरा देंगे, इसलिए उन्होंने उस क्षेत्र के रखवाले की बातों पर ध्यान नहीं दिया एवं सुनने के लिए तैयार नहीं था। बहुत देर तक उनके बीच झगड़ा होने के बाद, उनमें से सबसे मुख्य और नेता ने जब कहा, "मुझे तुम लोगों के बंदूकों की आवाज सुनने का मन हो रहा है," तब और कुछ बात नहीं बन सकता था। अपने राज्य और जात के लिए मरने को भी तैयार जवानों को और उत्तेजित करने की कोई जरूरत नहीं थी । कुछ ही देर में बंदूक चलने लगा। (मफेली 2010:47-48)

मिज़ो विद्रोहियों को स्थानीय मिज़ो लोगों से अलग करने के उद्देश्य से भारतीय सेना ने गाँववालों को समूहबद्ध करने का तरीका अपनाया, जिसे मिज़ो भाषा में 'खोखोम' अर्थात् गाँव समूहीकरण कहा गया । यह नीति तीन चरणों में सन् 1967 से 1970 वर्ष तक चलाया गया । भारतीय सेना द्वारा हजारों गाँववालों को जबरन पूरे गाँवों को संरक्षित बस्तियों (गाँवों का समूह) में जबरन बसाया । इन कारवाईयों का उद्देश्य एम.एन.एफ. का समर्थन खत्म करना था, लेकिन इसके परिणामस्वरूप लोगों को भारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, क्योंकि उन्होंने अपने घर और आजीविका खो दी थी –

> न केवल उन्हें अपने पूर्वजों से विरासत में मिले घरों, बगीचों, फसलों और खेतों को जुदा किया गया, बल्कि उन्हें समूहों में रहने के लिए मजबूर किया गया, वो भी दूसरे गाँव में, जिन्हें पी.पी.वी कहा जाता हैं... (मफेली 2010:166)

इस नीति के अंतर्गत कई गाँवों को ग्रूपींग सेंटर बनाया गया था, जिन्हें भारतीय सेना के नियंत्रण में रखा गया –

> हर समूहीकृत गाँव, ग्रूपींग सेंटर एक सैन्य अड्डा बनाता जा रहा था । अब मिज़ोरम एक विद्रोह क्षेत्र बनता जा रहा था, और हर जगह लोगों को सैन्य नियंत्रण के अनुसार रहना पड़ रहा था, इसलिए उनकी आजीविका अधिक कठिन हो गई । (मफेली 2010:38)

इसी प्रकार ईस्ट लुङदार गाँव को भी ग्रूपींग सेंटर के रूप में इस्तेमाल किया गया। अपने पूर्वजों से मिज़ो, एक बुने हुए समाज में रहते थे और वे सामाजिक हठधर्मिता से संतुष्ट थे । लेकिन जब विभिन्न गाँवों को भारतीय सेना द्वारा एक साथ समूहीकृत किया गया, तो उन्हें दूसरे गाँव में असंतुष्टि में रहना पड़ा, दूसरी ओर गाँव के निवासियों के लिए, अपने सामान्य जीवन को जारी रखना असंभव हो गया और लोगों में असंतोष पैदा हुआ। इस तरह समाज की एकता टूट गई।

गाँव समूहीकरण एक प्रकार से 'खुली जैल' की तरह था । जहाँ भारतीय सेना द्वारा लगभग चौबीस घंटे कर्फ्यू लागू किया जाता था । मिज़ो लोगों की आजीविका झूम खेती पर निर्भर होती थी। लेकिन, भारतीय सेना की निगरानी और कर्फ्यू जैसे प्रतिबंधों के कारण लोग केवल सीमित समय के लिए झूम में काम कर सकते थे। लेकिन इस बीच भी उनके ऊपर कर्फ्यू लागू कर दिया जाता था, इसलिए जिनके खेत गाँव से दूर होते थे, उन्हें गाँव लौटने में देरी हो जाती और उन्हें ड्यूटी पर मौजूद सेना को अपनी सफाई देनी पड़ती थी –

> उनके ऊपर हर दिन कर्फ्यू लागू किया जा रहा था। उन्हें बस थोड़े समय के लिए कुछ खाने के लिए अरबी जैसी सब्जी लेने की अनुमति दी जाती थी । लेकिन कभी-कभार अरबी निकालने के लिए खुदाई करते समय भी कर्फ्यू की घोषणा कर देते थे। सभी हड़बड़ी में घर वापस चले जाते थे। उन्हें ड्यूटी पर तैनात सैनिकों को अपनी सफाई भी देनी पड़ती थी। और कुछ लोगों की पिटाई भी होती थी। (मफेली 2010:22)

गाँव समूहीकरण ने मिज़ो समाज में चोरी जैसी प्रवृत्तियों को भी जन्म दिया। अपने पूर्वजों के समय से मिज़ो लोग केवल अपने दरवाजे को बंद करने के लिए मोटी-सी लकड़ी का उपयोग करते

थे, जो उनके ईमानदार व्यवहार का प्रतीक माना जा सकता हैं । लेकिन गाँव समूहीकरण जैसी नीति के कारण मिज़ो जाति को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा –

> अपने ही समय के अनुसार उन्हें बुरा काम करने के लिए मजबूर किया गया जो उन्होंने पहले कभी नहीं किया था और स्वीकार नहीं किया था। (मफेली 2010:134)

इस तरह, इस उपन्यास में ईस्ट लुङदार गाँव के लोगों के ज़रिए लेखिका ने मिज़ो विद्रोह के कारण किस प्रकार गाँवों के समूह में अव्यवस्था और स्वार्थ ने जगह बना लिया था – इसका चित्रण किया है।

मिज़ो विद्रोह के दौरान केवल भारतीय सेना का डर मिज़ो लोगों का एकमात्र भयानक अनुभव नहीं था । गाँववालों पर मिज़ो भूमिगत सेना की धमकियों और कई तरह की कार्रवाइयों ने भी लोगों के बीच उनके प्रति भय पैदा किया था । लेखिका ने उपन्यास में ईस्ट लुङदार के निवासियों द्वारा झेली गई भारतीय सेना के हाथों होने वाली ज्यादतियों को मिज़ो भूमिगत सेना द्वारा की गई ज्यादतियों के साथ चित्रित किया है। परिवार, समाज और व्यक्तिगत स्तर पर झेले गए कष्टों को कहानी में प्रभावशाली रूप में चित्रित किया गया है। ईस्ट लुङदार ने अपने ही भीतर दो विरोधी ताकतों के बीच लड़ाई का अनुभव किया था, जिसमें कुछ लोगों ने अपनी जान गँवा दी, पलक झपकते ही गाँव जलकर राख हो गया, और जलाने वाले का कभी पता नहीं चला। भयभीत गाँववाले अध-नग्न अवस्था में शरण लेने को विवश हो गये । लेखिका माफेली कहती हैं –

> डबडबाई आँखों से अपने जलते हुए गाँव और आसमान में ऊपर की ओर उठते आग के काले धुएँ को वे देख रहे थे। वे अच्छी तरह जानते थे कि अपने सामानों को बचाने के लिए वे कुछ नहीं कर सकते थे। उन्हें जिन मुश्किलों का सामना करना था, वे उन्हें ही करना था, उसके लिए कोई भी और आने वाला नहीं था। उनके दिल को जो ठेस पहुँची है, उसे कोई और नहीं समझ सकता। (मफेली 2010:16)

उनके गाँव और घर के जलने के बाद अब उन्हें आस-पास के गाँवों में जाने के अलावा और कोई रास्ता नहीं था –

वे सब अपनी-अपनी सहूलियत के अनुसार इधर-उधर निकल गए। सब ने रोते हुए एक-दूसरे को विदा करके अपने-अपने रास्ते अलग किए। (मफेली 2010:18)

ईस्ट लुङदार की इस घटना ने लोगों के मन मिज़ो भूमिगत सेना के प्रति डर पैदा कर दिया।

स्वाभाविक रूप से, विद्रोह और महिलाओं के लिए उसके विनाशकारी परिणाम सीधे तौर पर जुड़े हुए हैं। विद्रोह के परिणाम महिलाओं पर शारीरिक एवं मानसिक पीड़ा के रूप में देखे जा सकते हैं। दो दशकों (1966-1986) तक चलने वाले इस मिज़ो विद्रोह के दौरान मिज़ो महिलाओं की स्थिति सबसे अधिक अनिश्चित और असुरक्षित थी। महिलाएँ एम.एन.एफ. और भारतीय सेना के डर के बीच फँसी होती थीं। विद्रोह के दौरान महिलाएँ भारतीय सेना और मिज़ो भूमिगत सेना के बीच पिसी जाती थी। उपन्यास की लेखिका इस सच्चाई के साथ-साथ पुरुषों की भाँति महिलाओं में राष्ट्रवाद और देशभक्ति की समान भावना को प्रस्तुत करती है। इस भावना को उपन्यास में लेखिका ने ठूआमखूमई और कापमोई जैसे पात्रों के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

भूमिगत मिज़ो विद्रोही और सामान्य जनता को अलग करने के लिए भारतीय सरकार द्वारा गाँव समूहीकरण जैसी नीति को अपनायी गयी। इस कारण पूरी आजादी के साथ भूमिगत मिज़ो विद्रोही पूरे गाँव में घुस नहीं सकते थे, परिणामस्वरूप अपने लिए भोजन और अन्य कुछ जरूरतों की आपूर्ति के लिए गाँववालों की मदद लेते थे। उपन्यास में भी भोजन और सामान पहुँचाने के लिए भूमिगत मिज़ो विद्रोहियों द्वारा ईस्ट लुङदार गाँव से माँग की गयी और यदि उनकी माँग पूरी नहीं की तो उनके गाँव को जला देने की चेतावनी भी दी गई। इसलिए भूमिगत मिज़ो विद्रोहियों को भोजन और दूसरी जरूरी चीजें पहुँचाने के लिए पाँच युवतियाँ निकल पड़ीं। क्योंकि महिलाओं पर कम संदेह किया जाता था। बीच रास्ते में ड्यूटी पर तैनात दो भारतीय सेना दिखाई दिए। उन्होंने ड्यूटी पर तैनात भारतीय सेना से बहाना बनाया कि वे तुईखुर (पानी का स्त्रोत) से पानी भरने जा रही हैं।

ड्यूटी पर तैनात दोनों भारतीय सेना उन युवतियों के साथ चलने लगे। उनमें से ठूआमखूमई के मन में अपने गाँव और राष्ट्र के प्रति प्रेम भावना जाग उठी।। ठूआमखूमई मन ही मन सोचने लगी –

अपने देश के लिए अपना सर्वस्व देने से बढ़कर और क्या होगा तथा इससे महान और क्या हो सकता है? (मफेली 2010:99)

वह आगे सोचती है –

...लेकिन उसे यह लगता था कि उस रात अपने गाँव और वॉलनटियर को बचाने के लिए उन सिपाहियों को अपना कीमती कौमार्य देना होगा। (माफेली 2010:101)

उपर्युक्त उल्लेखों के अलावा, लेखिका ने मिज़ो विद्रोह के दौरान मिज़ो लोगों के कठिन जीवन और त्रासदी को जीवंत रूप से चित्रित किया है।

निष्कर्ष :

इस प्रकार, लेखिका ने अपने उपन्यास '1966 मिज़ोरम: ङिहल्ह हर कन तुआर' में दो दशकों तक चले मिज़ो विद्रोह के दौरान मिज़ो लोगों के दुख-दर्द, उनके द्वारा सामना किए जाने वाले कष्टों, अत्याचार आदि पर ध्यान केंद्रित करते हुए निर्दोष नागरिकों पर पड़े के गंभीर प्रभाव को उजागर करने का सार्थक प्रयास किया है।

ग्रंथ-सूची :

Chawngsailova, Dr. Ethnic National Movement in the Role of the MNF, . Aizawl: Mizoram Publication Board , 2007.

Lala, Margaret Ch. Zama & C. Lalawmpuia Vanchiau. After Decades of Silence, Voices from Mizoram, A Brief Review of Mizo Literature. Centre for NE Studies and Policy Research , 2016.

Mafeli. Nghih Har Kan Tuar . Aizwal: Samaritan Printers , 2010.

MNF General Headquarters, Documentary of Mizoram War of Independance 1966 to 1986. Kolkata: Swapna Printers Works , 2017.

Zama, C. Untold Atrocity : The Struggle for Freedom in Mizoram 1966-1986. New Delhi : Power Printers , 2014

****

संपर्क-सूत्र :

जूदिथ ज़ोपरी

शोधार्थी, हिन्दी विभाग

मिजोरम विश्वविद्यालय

शोध-चिंतन पत्रिका: विद्वानों द्वारा पुनरीक्षित ई शोध पत्रिका
वर्ष : 6 ; अंक: 10-11 ; जनवरी-दिसंबर,2025; पृष्ठ संख्या : 62-70

विजयदान देथा की कहानियों में लोक जीवन

कोमल मीणा

प्रो. विपुल कुमार

शोध-सार :

विजयदान देथा की कहानियाँ लोक जीवन के बहुआयामी चित्रण का विश्लेषण प्रस्तुत करती हैं। उन्हें राजस्थानी लोक साहित्य के अग्रणी स्तंभों में से एक माना जाता है । अपनी कहानियों के माध्यम से उन्होंने ग्रामीण राजस्थान की आत्मा, संस्कृति और जनमानस को जीवंत किया है। विजयदान देथा की कहानियाँ मात्र मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि राजस्थानी लोक संस्कृति का एक प्रामाणिक दस्तावेज़ भी हैं। उन्होंने वाचिक परंपरा (कहन-शैली) में प्रचलित लोक कथाओं को अपना आधार बनाया। उन्होंने वाचिक परंपरा (कहन-शैली) को यथावत प्रस्तुत न कर, आधुनिक संवेदनशीलता और व्यापक अर्थों के साथ पुनर्सृजित किया। उनकी कहानियों में लोक जीवन का यथार्थवादी चित्रण मौजूद है, जिसमें कठोर जीवन, अभावग्रस्तता, भूख, गरीबी, और अंधविश्वासों के साथ-साथ लोक-आस्थाएँ और आपसी संबंध भी विद्यमान हैं। विजयदान देथा ने अपनी कहानियों के माध्यम से सामाजिक विसंगतियों और रूढ़ियों पर तीखा प्रहार किया है। उन्होंने सामंती शोषण, जातिगत भेदभाव, पुरुष-प्रधानता और धार्मिक आडंबरों को निर्भीकता से यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है। साथ ही, विजयदान देथा की रचनाओं में मानवीय मूल्यों को बहुत महत्त्व दिया गया है। उन्होंने मानवीय मूल्यों जैसे - स्वतंत्रता, समानता, सामाजिक न्याय और नारी स्वातंत्र्य को प्रस्तुत किया है। उनकी कहानियों की विशेषता यह है कि उन्होंने राजस्थानी लोक जीवन के शोषितों, पीड़ितों और हाशिए पर स्थित वर्गों को कथानक का केंद्र बनाया है, जिससे उनकी रचनाएँ अधिक प्रासंगिक और लोकपक्षधर बन गईं हैं।

बीजशब्द : *लोक, लोक संस्कृति, लोक जीवन, परंपरा, स्वतंत्रता, समानता, सामाजिक न्याय, नारी स्वातंत्र्य, कहन-शैली, रूढ़ियाँ, मान्यता, अंधविश्वास, वेशभूषा*

प्रस्तावना :

विजयदान देथा कहानियों के माध्यम से राजस्थानी लोक की मिट्टी, संस्कृति और जनमानस को प्रस्तुत करते हैं। उनकी कहानियाँ केवल कथाएँ नहीं, बल्कि राजस्थानी लोक जीवन का एक सजीव और विस्तृत कैनवास प्रस्तुत कराती हैं। उनकी कहानियों में राजस्थान की परंपराएँ, मान्यताएँ, संघर्ष और मानवीय संवेदनाएँ अपनी पूरी गरिमा तथा यथार्थ के साथ प्रस्तुत है। उन्होंने साहित्य को मनोरंजन का साधन के रूप में प्रस्तुत नहीं किया, बल्कि लोक जीवन को यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने लोककथाओं की वाचिक परंपरा (कहन-शैली) को आधुनिक साहित्यिक चेतना के साथ जोड़ा। उन्होंने लोक जीवन के यथार्थ को जस-का-तस प्रस्तुत किया है, जहाँ सुख-दुख, प्रेम-घृणा, आशा-निराशा और अन्याय-संघर्ष का ताना-बाना बुना हुआ है। उनकी कहानियों में लोक-व्यवहार, आस्थाएँ, सामाजिक विसंगतियाँ और मानवीय मूल्य इतनी गहराई से रचे-बसे हैं कि वे किसी भी पाठक को राजस्थानी जनजीवन की नब्ज़ से परिचित करा देती हैं। दरअसल, उनकी कहानियों में लोक जीवन का चित्रण मात्र एक साहित्यिक अभ्यास नहीं, बल्कि एक सांस्कृतिक दस्तावेज़ है, जो समय की कसौटी पर खरा उतरता है।

विश्लेषण:

आधुनिक साहित्य में कहानी की लोकप्रियता बहुत बढ़ गई है। साहित्य की समस्त विधाओं में संभवतः कहानी ही एकमात्र ऐसा माध्यम है, जो अपने लघु आकार में भी वृहत् जीवन को अभिव्यंजित करने में समर्थ है। कहानी विधा में पाठकों की बढ़ती रुचि के सम्बन्ध में डॉ. प्रताप नारायण टंडन के विचार हैं –

> गंभीर साहित्य की आकांक्षा रखने वाले पाठक को कहानी में चिंतन–दर्शन की सामग्री मिलती है और सामयिक मनोरंजन की इच्छा वाले व्यक्ति की भी इससे मानसिक संतुष्टि होती है। (टंडन 1970:1)

विजयदान देथा हिंदी व राजस्थानी कहानी को अपनी लेखनी से जीवंत करने वाले लेखकों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। उन्होंने अपना सारा जीवन लोक साहित्य में रमते हुए बिताया है। उनकी कहानियों में लोक जीवन की अभिव्यक्ति के संबंध में 'बिज्जी का कथालोक' लेख में गोपाल भारद्वाज लिखते हैं –

> बिज्जी की कहानियां राजस्थान के पारंपरिक समाज का समग्र व प्रतिनिधि चित्र प्रस्तुत करती हैं। गांवों का परिवेश, जाति-वर्ण की समाज संरचना और सामंती व्यवस्था व संस्कार के विविध पक्षों से इनका ताना-बाना बुना गया है, सवर्णता, सामंती सत्ता और पुरुष प्रभुता से जुड़े हुए अहं, स्वार्थ, असमानता, शोषण और पाखण्ड तथा अन्य मानवीय गुण, दोष या विकृतियों को उजागर करने में बिज्जी सिद्धहस्त हैं। सभी तरह की स्थितियों व पात्रों का इनमें समावेश है और जिजीविषा व द्वन्द्व की सहज, सटीक व संघर्षपूर्ण प्रस्तुति इनमें हुई है। इसलिए ये कहानियां साहित्यिक होने के साथ-साथ सामाजिक भी है और इस रूप में इनकी ऐतिहासिक एवं समाज-वैज्ञानिक अर्थवत्ता व महत्ता किसी तरह कम नहीं है। (थानवी 1987:556)

लोक जीवन के विविध पक्ष होते हैं जिनमें लोक संस्कृति, लोक कलाएँ, लोक साहित्य, लोक परम्पराएँ आदि सम्मिलित हैं। डॉ. बापूराव देसाई 'लोक' के सम्बन्ध में लिखते हैं –

> लोक वह मनुष्य समाज है जो अपनी परम्पराओं में प्रचलित रीति-रिवाज, खान-पान, रहन-सहन, लेन-देन और आदिम विश्वासों के प्रति आस्थाशील होने से अशिक्षित कहलाता है। (देसाई 2004:14)

विजयदान देथा की कहानियाँ राजस्थान के ग्रामीण अंचल और वहाँ के ठिकानों और ढाणियों के इर्द-गिर्द ही घूमती हैं। देश के अन्य राज्यों की तरह, राजस्थान राज्य भी अपनी संस्कृति व विशेषताओं के कारण एक अलग पहचान रखता है। राजस्थान के संदर्भ में डॉ. रामप्रसाद दाधीच लिखते हैं-

> राजस्थान भारत भूमि का एक टुकडा मात्र नहीं है, इसकी प्राकृतिक सुन्दरता, इसका गौरवमय इतिहास, इसके नगर, तीर्थस्थल, भाषा, साहित्य, कला, व्रत-त्यौहार, रीति-

> रिवाज, स्त्री-पुरुष, वेश-भूषा, जीवन-व्यवहार एक ऐसी सुगढ़ गौरवमयी संस्कृति का निर्माण करते हैं, जो भारत की सामाजिक संस्कृति का अंग होते हुये भी अपनी अलग पहचान बनाते हैं। रूपमय राजस्थान के संस्कृति यथार्थ में रंगमय जीवन्त है। (दाधीच 1986:78)

अतः उनकी कहानियों में राजस्थानी लोक जीवन की अभिव्यक्ति अधिक देखने को मिलती है। विजयदान देथा अपनी कहानियों में लोक के पहनावें और रहन-सहन को इतनी सूक्षमता से वर्णित करते हैं कि उसका जीवंत चित्र मानस-पटल पर उभर आता है। जैसे वे अपनी कहानी 'केंचुली' में नौजवान गूजर की वेशभूषा का वर्णन करते हुए लिखते हैं –

> ईसर की तरह तराशी हुई गोरी व मजबूत कद-काठी। टूल का बड़े छोगे वाला साफा। लाल किनारी वाली रेजी की धोती। मगजीदार अँगरखी, दुहरे पुट्ठे। गले में कंठी, ताँती और देवजी का फूल। खालिस सोने की साँकलियाँ। हाथों में चाँदी के नाहरमुखी कड़े, पैरों में कसीदे की सुरंगी जूतियाँ। साफे तक लंबी लाठी, ताँबे के तारों से गुथी हुई। दोनों ओर चाँदी के बंध। (देथा 2020:46)

लोक जीवन के विविध पक्षों में लोक मान्यताएँ भी आती हैं। लोक में शकुन के प्रति जितना विश्वास सजीव है, उतना ही विश्वास अपशकुन के प्रति नजर आता है। 'अपशकुन' अर्थात् अशुभ संकेत का सूचक। लोक जीवन का यह विश्वास है कि शकुन एक बार अपने लक्ष्य की प्राप्ति से चूक सकता है, पर अपशकुन कभी भी नहीं चूकता। लोक जीवन के इस विश्वास को विजयदान देथा की 'दूरी' कहानी उजागर करती है; जब हंजा माऊ बस में हमसफ़र महिला यात्री से कहती है–

> तुम्हारा बेटा भी बीमार है क्या?
>
> (हमसफ़र महिला यात्री) कल-जीभी, थूक तेरे मुँह से ! मेरा बेटा क्यों बीमार होने लगा?
>
> (देथा 2020:83)

लोक जीवन का विश्वास है कि धार्मिक तीर्थ स्थलों के दर्शन हेतु जितना शारीरिक-मानसिक कष्ट भोगते हैं, उतना ही पुण्य मिलता है। देथा की 'मूजी सूरमा' कहानी लोक का यह विश्वास प्रकट करती है –

> ना, यह बात मैं हरगिज नहीं मानूँगा। तीरथों के लिए जितना दुःख उठाया जाये, उतना ही पुण्य बढ़ता है! (देथा 2020:106)

लोक प्रकृति की गोद में अपना जीवन यापन करता है। लोक के सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक आदि क्रियाकलापों में प्रकृति की महत्त्वपूर्ण भूमिका नज़र आती है। सामाजिक जीवन से जुड़े विविध कार्यों में लोक अपने इष्ट देव के साथ-साथ प्रकृति की पूजा करने संबंधित प्रवृत्ति प्रकृति के प्रति आस्था एवं विश्वास को दर्शाता है। कहानियाँ व्यक्त करती हैं कि प्रजा के लिए राजा, ठाकुर आदि ईश्वर के समान होता है। सामंती सत्ता के प्रति प्रजा में व्याप्त प्रभाव को विजयदान देथा की 'केंचुली' कहानी व्यक्त करती है –

> गुजरी की क्या औकात कि वह ठाकुर की खातिर करने से इनकार करे। इनकार करने में सार ही क्या है! गूजर तो केवल घर का मालिक है, पर ठाकुर समूचे गाँव का मालिक है। कैसी ही खूबसूरत क्यों न हो, है तो जात की गूजरी। ठिकाने की रिआया। हुजूर की सेज तक पहुँचना तो फ़क्र की बात है! (देथा 2020:47)

विजयदान देथा ने लोक के सामाजिक जीवन में प्रचलित प्रथाओं को भी कथा-साहित्य में प्रकट किया है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही परम्पराओं, रीति-रिवाजों एवं प्रथाओं आदि के प्रति लोक के सामाजिक जीवन में अटूट आस्था एवं विश्वास नज़र आता है। प्रचलित प्रथाओं का लोक निःसंकोच तन-मन से निर्वाह करता हुआ कथा-साहित्य में दिखाई देता है। प्रथाओं के सहारे लोक सामाजिक कार्यों को पूरा करता है। लोक में प्रचलित बाल-विवाह प्रथा, बहु-विवाह प्रथा, दहेज प्रथा, नाता प्रथा, घूँघट प्रथा, गोद प्रथा आदि को कथा-साहित्य रेखांकित करता हैं। लोक के सामाजिक जीवन में बाल विवाह प्रथा की भूमिका महत्त्वपूर्ण नज़र आती है। इस प्रथा के द्वारा लोक सामाजिक संबंधों को बढ़ाता हुआ तथा कर्त्तव्यों का निर्वाह करता हुआ दिखाई देता है। बाल-विवाह प्रथा को विजयदान देथा की 'दूरी' कहानी व्यक्त करती है-

> डोकरी तो आज हुई है। पर साठ बरस पहले कुलाँचें भरती नंग-धडंग तोंदल छोकरी ब्याह के बाद पहली मर्तबा नया वेश पहनकर ससुराल की अजानी डगर रवाना हुई, तब सचमुच वह आठ बरस की ही थी। (देथा 2020:73)

लोक के सामाजिक जीवन में जातियों से संबंधित गवाड़ी या कुटुंब को कहानियाँ प्रकट करती है। कुटुम्ब व समाज के पारस्परिक अंत:संबंध को रेखांकित करते हुए डॉ. चेतन स्वामी लिखते हैं-

> कुटुम्ब, समाज की एक इकाई है। इसे वृहत्तर समाज का एक लघु रूप भी कह सकते हैं। समाजशास्त्र में इसे 'एक समाज' कह कर समाज से भिन्नता प्रदान की है। राजस्थानी भाषा में कुटुम्ब के लिए 'कडूम्बा' शब्द प्रयुक्त किया जाता है। अपनी जाति-गोत्र समूह के लोग कडूम्बा की परिधि में आते हैं। वैदिककालीन कौटूम्बिक परम्परा का राजस्थानी समाज में अभी भी निर्वाह किया जाता है। कुटुम्ब का परिवार व व्यक्ति पर नियंत्रण होता है। अनेक रीति-रिवाजों एवं अवसरों पर कुटुम्ब के सदस्यों की उपस्थिति अनिवार्य होती है। राजस्थानी लोकजीवन में कुटुम्ब का विशेष महत्त्व है। (स्वामी 2000:162)

जैसे कि गूजर जाति की गवाड़ी को विजयदान देथा की 'केंचुली' कहानी व्यक्त करती है –

> ...किसी एक ठिकाने में गूजरों की एक खाती-पीती गवाड़ी थी। रेंडी नसल की गायें, भैवातड़े की भैंसे। पानी से भी ज्यादा दूध-दही की इफरात। घी के घड़े भरे हुए। बस्ती वालों को मनचाही छाछ की छूट। (देथा 2020:46)

लोक में जीवन यापन करने वाली जातियों व उनसे संबंधित व्यवसायों को भी विजयदान देथा की कहानियों में अभिव्यक्ति मिली है। कृषि, पशु पालन एवं व्यापार आदि कार्यों में विशेष भूमिका निभाने वाली उच्चवर्ग से संबंधित जातियों को भी कहानियाँ व्यक्त करती हैं। कृषि, पशु-पालन से संबंध रखने वाली गूजर जाति को देथा की 'केंचुली' कहानी व्यक्त करती है-

> उपयुक्त समय पर गूजर का गौना हुआ। गौने के साथ ही समूचे ठिकाने में यह बात हवा के साथ फैल गयी कि ऐसी खूबसूरत गूजरी न तो देखी न ही सुनी। साक्षात् ईसर-गणगौर की

जोडी। मानो विधाता ने एक-दूसरे की खातिर ही इतनी कारीगरी की हो! (देथा 2020:46)

किसान के लिये कृषि और पशुपालन जीवन यापन तथा धन संचय करने का एक महत्वपूर्ण साधन है । 'आशा अमरधन' कहानी में विजयदान देथा मारवाड़ के किसान की जीवन यापन और धन संचय की स्थिति को निम्न लोकोक्ति द्वारा व्यक्त करते हैं –

घुटने के बीच दबा बकरा कसाई के हाथ की छूरी से बचे तो 'नौ-कूंटी मारवाड़' का किसान बोहरे के कान में खोंसी कलम से बचे। (देथा 2020:7)

मानव की सजीवता का एक परिचय भाषा है। भाषा के फलस्वरूप ही मानव अन्य प्राणियों से एक अलग पहचान रखता है। मानव के लिए भाषा के महत्त्व को रेखांकित करते हुए अज्ञेय लिखते है-

मानव पहला स्वाधीन प्राणी है, क्योंकि उसके पास भाषा है, उसके पास प्रतीक रचने की शक्ति है तथा अवधारणा करने की शक्ति है, जबसे मनुष्य प्रतीक का स्रष्टा हो गया है तबसे वह स्वाधीन हो गया है, तब से वह सभ्य है और इसके बाद ही हम सभ्यता के विकास की संस्कृति की चर्चा कर सकते हैं। उसके पहले जैविक विकास की चर्चा हो सकती है, संस्कृति विकास की चर्चा नहीं होती। (अज्ञेय 1984:124)

विजयदान देथा ने भी भाषा की इस महत्ता को ध्यान में रखते हुए लोक भाषा के साथ-साथ देसी-विदेशी शब्दों को अपनाकर कथा-साहित्य का सृजन और पुन:सृजन किया है। उनकी भाषा में व्याप्त विशेषता को रेखांकित करते हुए सर्वेश्वर दयाल सक्सेना 'देथा की देन' शीर्षक लेख में लिखते हैं-

विजयदान देथा की भाषा अनुभव की भाषा है- तपे हुए अनुभव की। वह सूक्तियां गढ़ते चलते हैं और कहावतों तथा लोकोक्तियों को बीच-बीच में मोती की तरह टांकते जाते हैं। (थानवी 1987:544)

इसी प्रकार विजयदान देथा ने अपनी कहानियों में अनेक ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है, जिनका उपयोग राजस्थानी बोली में ही किया जाता है। जैसे- पत्नी के लिए 'धणीयाणी', बाजरे के आटे की रोटी के लिए 'सोगरा', आडतीये के लिए 'बोहरा', पति के लिए 'धणी' आदि। इन शब्दों और लोकोक्तियों आदि से स्पष्ट है कि विजयदान देथा ने यथासंभव अपनी कहानियों में राजस्थानी बोली को प्राथमिकता देने का प्रयास किया है।

निष्कर्ष :

विजयदान देथा की कहानियों में लोक जीवन का चित्रण मात्र साहित्यिक प्रवृत्ति या कलात्मक प्रस्तुति नहीं, बल्कि वे राजस्थानी संस्कृति का एक व्यापक और बहुआयामी सांस्कृतिक दस्तावेज़ हैं। उनकी कहानियाँ पाठकों को केवल कथाएँ नहीं सुनाती, बल्कि उन्हें लोक समाज से जोड़ती हैं। उनकी कहानियों में राजस्थानी लोक जीवन के सुख-दुख, आशा-निराशा और संघर्ष साथ-साथ चलते हैं। उन्होंने लोक कथाओं को एक नया जीवन दिया और उन्हें सामाजिक परिवर्तन तथा मानवीय मूल्यों की स्थापना के साथ-साथ सामाजिक चेतना और सांस्कृतिक पुनर्स्मरण का एक सशक्त माध्यम बनाया। उनका यह योगदान उन्हें भारतीय साहित्य में ही नहीं, बल्कि विश्व साहित्य में भी एक अद्वितीय लोक कथाकार के रूप में स्थापित करता है।

विजयदान देथा स्वयं ग्रामीण पृष्ठभूमि से आते थे और उन्होंने अपना पूरा जीवन अपने गाँव बोरुंदा में बिताया। अतः उनकी कहानियों में ग्रामीण जीवन का सच्चा और नग्न चित्रण मिलता है। ग्रामीणों का रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा, आजीविका के साधन, कठोर परिश्रम, अभावग्रस्त जीवन, भूख, गरीबी, आस्थाएँ, जातिगत भेदभाव, भाग्यवाद, शकुन-अपशकुन, जमींदारी प्रथा, महाजनी सभ्यता और शोषण आदि का साकार और जीवंत चित्रण उनकी कहानियों में देखने को मिलता हैं। देथा ने स्वाधीनता, समानता, लोकतंत्र, सामाजिक न्याय, नारी स्वातंत्र्य और आत्म-सम्मान जैसे मानवीय मूल्यों और मानव अधिकारों को परिपुष्ट करने वाली जीवंत और प्रेरणादायी लोक कथाओं का चयन किया। देथा ने अपने लोक में जो देखा और गली-गली घूमकर लोगों से जो

बातें सुनीं, उसे उन्होंने अपनी कहानियों में लिपिबद्ध करने का प्रयास किया। उनकी कहानियों में राजस्थानी भाषा का लालित्य और लोक-व्यवहार की सहजता देखने को मिलती है।

उनकी भाषा में राजस्थानी लोक-व्यवहार की सहजता और लालित्य झलकता है, जो उनकी कहानियों को अद्वितीय प्रामाणिकता प्रदान करता है। उन्होंने अपनी कहानियों के लिए वाचिक परंपरा में प्रचलित लोक कथाओं को आधार बनाया। उन्होंने लोक जीवन के शाश्वत मूल्यों को अपनी कहानियों में पिरोया। उनकी 'बातां री फुलवारी' नामक संग्रह लोक कथाओं का महत्त्वपूर्ण उदाहरण है।

ग्रंथ-सूची :

अज्ञेय. केंद्र और परिधि . नई दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस , 1984 .

टंडन, प्रतापनारायण. हिन्दी कहानी कला . लखनऊ : हिन्दी समिति, सूचना विभाग, 1970 .

दाधीच, रामप्रसाद. राजस्थानी भाषा-साहित्य-संस्कृति . जोधपुर : राजस्थानी ग्रंथागार , 1986

देथा,विजयदान. विजयदान देथा की लोकप्रिय कहानियाँ . नई दिल्ली :स प्रभात प्रकाशन, 2020 .

देसाई, बापूराव. लोकसाहित्य शास्त्र . कानपुर : विकास प्रकाशन, 2004 .

मित्तल, इन्द्रसेन. रुंख पत्रिका,1987.

स्वामी, चेतन. आधुनिक राजस्थानी कहानी और लोक जीवन . चुरू : कथाराज प्रकाशन, 2000.

संपर्क-सूत्र :

कोमल मीणा

शोधार्थी, हिंदी अध्ययन विभाग

गुजरात केन्द्रीय विश्वविद्यालय, वड़ोदरा

9119257147

Komalmeena1412001@gmail.com

शोध-चिंतन पत्रिका: विद्वानों द्वारा पुनरीक्षित ई शोध पत्रिका
वर्ष : 6 ; अंक: 10-11 ; जनवरी-दिसंबर,2025; पृष्ठ संख्या : 71- 94

शरतचन्द्र की नारी दृष्टि और 'चरित्रहीन'

सोनिया कुमारी प्रसाद

शोध-सार :

'चरित्रहीन' बांग्ला के महान उपन्यासकार शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय द्वारा रचित एक जनप्रिय बांग्ला उपन्यास है। नारी के शोषण, समर्पण और भाव-जगत तथा पुरुष समाज में उससे उभरने वाला अन्तर्विरोध ही इस उपन्यास का केन्द्रबिन्दु है। उन्होंने जब 'चरित्रहीन' लिखा था, तब उन्हें क़ाफी विरोध का सामना करना पड़ा था। इस उपन्यास में नारी के चरित्र के दोहरे संघर्ष को प्रस्तुत किया गया है।

बीजशब्द : *जनप्रिय, समर्पण, अंतर्विरोध, शोषण, चरित्रहीन, केन्द्रबिन्दु*

प्रस्तावना :

शरतचंद्र चट्टोपाध्याय का उपन्यास 'चरित्रहीन' नारी के दोहरे चरित्र का दस्तावेज है। साल 1917 ई. में लिखे गए विवादास्पद शीर्षक के साथ 'चरित्रहीन' आज भी प्रासंगिक है। उस समय कई प्रकाशकों ने यह कहकर इसे प्रकाशित करने से मना कर दिया कि यह समाज की परंपराओं और मूल्यों के ख़िलाफ़ है। शरत बाबू की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने साहित्य में कुलटा या वैश्या बनी स्त्रियों को भी महिमा मंडित किया है। उनका मानना था कि घृणा मनुष्य से नहीं,बल्कि सामाजिक परिस्थितियों से करनी चाहिए। चरित्रहीन की सावित्री जो दासवृत्ति का कार्य करते हुए भी अपने त्याग और बलिदान से सबको अपना बना लेती है, वहीं दूसरी ओर स्त्री

किरणमयीअपने आक्रोश के कारण अपने चरित्र को पददलित कर, खुद को वेश्यावृत्ति के दलदल में गिरा लेती है। लेकिन शरत बाबू अंत समय तक कहते हैं कि 'चरित्रहीन' की किरणमयीसे इस समाज की हजारों स्त्रियों का उद्धार होगा । इस प्रकार शरत बाबू का नारी- दृष्टिकोण अत्यंत सूक्ष्मता को धारण किए हुए हैं। वे गहराई में जाकर दो बातों पर बल देते हैं – वेश्या वृत्ति स्त्री की चरित्रहीनता का कारण नहीं है तथा समाज को उनके प्रति संवेदनशील होना चाहिए और सूक्ष्म व पैनी दृष्टि से स्त्री जीवन को विषाक्त बनाने वाली परिस्थितियों को दूर करना चाहिए।

विश्लेषण :

विश्व साहित्य के फलक पर शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय का नाम सुनहरे अक्षरों में लिखा जाता है। वे केवल बांग्ला के साहित्यकार नहीं थे, बल्कि उन्हें वैश्विक स्तर पर सराहा गया है। यों तो शरत बाबू का व्यक्तित्व बड़ा अनूठा था। वे अत्यंत उच्छृंखल व्यक्तित्व के माने जाते थे, परंतु कहा जाता है कि उनके रहने का कमरा उतना ही व्यवस्थित रहता था। उनके पिता मोतीलाल यायावर प्रकृति के स्वप्नदर्शी व्यक्ति थे। उन्होंने कभी भी एक स्थान पर टिकना नहीं सीखा था। उसी भाँति शरत ने भी कभी एक स्थान पर टिकना नहीं सीखा था। पिता का यही अधूरापन उसकी प्रेरक शक्ति बन गया था। जब विष्णु प्रभाकर ने उनकी जीवनी को लिखना प्रारम्भ किया, तो उन्हें भी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

शरत बाबू देखने में बहुत सुन्दर नहीं थे, उनकी आंखो को छोड़कर उसके चेहरे में कोई विशेषता नहीं थी, लेकिन आँखो की यह चमक ही सामने वाले को बांध लेती थी। बचपन में वे जितने नटखट थे, उतने ही साहसी भी। दूसरों का परोपकार करना उन्होंने अपनी आदत बना ली थी। वे रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय से बहुत प्रभावित थे। शरत रवीन्द्रनाथ को अपना आदर्श मानते थे। विष्णु प्रभाकर एक स्थान पर लिखते हैं –

> प्रकृति का सौन्दर्य जैसे उसके थके तन-मन को सहलाता होगा और तब उसने मन-ही-मन प्रतिज्ञा की होगी - मैं सूर्य, गंगा और हिमालय को साक्षी करके प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं

जीवन-भर सौन्दर्य की उपासना करूंगा, कि मैं जीवन-भर अन्याय के विरुद्ध लड़ूंगा, कि मैं कभी छोटा काम नहीं करूंगा। (प्रभाकर 2016:12)

शरतचन्द्र अत्यंत दयालु प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। शरत बाबू का दया-धर्म से पूर्ण हृदय दुःखी प्राणी के दुःख और कष्ट को देखकर रो उठता था। इस एक उदाहरण से यह बात प्रमाणित हो जाती है कि जीवन के प्रति उनकी भावना और विचारधारा कितनी सजीव और करुणापूर्ण थी। विष्णु प्रभाकर लिखते हैं –

उस दिन अवकाशप्राप्त अध्यापक अघोरनाथ अधिकारी स्नान के लिए गंगा घाट की ओर जा रहे थे। कपड़े उठाए पीछे-पीछे चल रहा था शरत। एक टूटे हुए घर के भीतर से एक स्त्री के धीरे-धीरे रोने का करुण स्वर सुनाई दिया । अधिकारी महोदय ठिठक गए। बोले, यह कौन रोता है ? क्या हुआ इसे? शरत ने उत्तर दिया, मास्टर मुशाई, इस नारी का स्वामी अंधा था। लोगों के घरो में काम-काज करके यह उसको खिलाती थी। कल रात इसका वह अंधा स्वामी मर गया। वह बहुत दुःखी है। दुःखी लोग बड़े आदमियों की तरह दिखाने के लिए जोर-जोर से नहीं रोते। उनका रोना दुख से विदीर्ण प्राणों का क्रन्दन होता है। मास्टर मुशाई, यह सचमुच का रोना है। छोटी आयु के बालक से रोने का इतना सूक्ष्म विवेचन सुनकर अघोर, बाबू विस्मित हो उठे। (प्रभाकर 2016:12)

जिस उम्र में बच्चे खेलने-कुदने में अपना समय व्यतीत करते हैं, उसी छोटी से आयु में भविष्य के उज्जवल द्रष्टा शरत ने क्रंदन के स्वर को पहचान लिया था। शरत की सबसे खास बात यह थी कि वे समाज के उपेक्षित पात्रों को भी समाज का अंग मानते थे। वे वेश्याओं को भी समाज का अंग बताया करते थे। उनके दुःखदर्द को देखकर वह बर्फ की तरह पिघल जाते थे और उनकी सहायता हेतु तन-मन-धन से जुट जाते थे। वे वेश्याओं में भी गुणों को खोजते थे और उनसे कुछ शिक्षा ग्रहण करने की कामना करते थे। उनमें प्रेम, दया, करुणा और अपनत्व का इतना विशाल सागर तरंगित रहता था कि वह अपना भोजन तक सड़क पर घूमने वाले आवारा कुत्तों को दे देते थे और स्वयं भूखे रह जाते थे। उनकी दृष्टि में कोई भी मनुष्य बुरा नहीं होता, भले ही वह चोर, डाकू या समाज को

अपार कष्ट पहुँचाने वाला व्यक्ति क्यों न हो, वे कहते थे कि मनुष्य के अंतर में मानवता छिपी होती है, दानवता नहीं, इसलिए हमें मनुष्यत्व को पहचानने का प्रयास करना चाहिए। यही कारण था कि जब कोई व्यक्ति उनके सम्पर्क में आता तो वह भाव-विभोर होकर उनका आदर करने लगता था।

वैसे तो हकीकत यह है कि हम जब तक किसी चीज को अपने से अनुभव नहीं कर लेते हैं तब तक वह हमारे साहित्य में जीवन्त नहीं हो पाती है। शरतचन्द्र अपने साहित्य में जो कुछ भी लिखते हैं वह उनका भोगा हुआ होता है। शायद इसी भ्रमणशील जीवन के फलस्वरूप ही उनके हृदय में घुमक्कड़पन के विचारों ने जन्म ले लिया हो। सचमुच, बचपन से ही वे बंग समाज में व्याप्त अन्याय को देखकर काँप उठते थे। उस समय समाज रूढ़िवाद से ग्रस्त था।एक बार रंगून में प्लेग फैला। शरत बाबू उस समय रंगून में कार्यरत थे। उन्होंने अपने जीवन की चिंता किए बिना, रोग ग्रस्त स्त्री-पुरुषों की जी-जान से सेवा की। प्लेग का आक्रमण इतना भयानक था कि हर कोई किसी दूसरे की चिंता किए बिना भाग खड़ा होता था। रोगी अकेले तड़प-तड़पकर मरने लगे। शरत असहाय लोगों की सहायता करने में सदा आगे रहते थे। और वहाँ उन्होंने यही किया। जहां प्लेग बिमारी का नाम सुनकर बड़े से बड़ा साहसी भी अपने प्रियजन को छोड़ देता था। वहाँ शरत बाबू औषधि खरीद कर देने में भी संकोच नहीं करते थे। शरत बाबू अपने घरवालों के लिए उपेक्षित थे। उनकी माता भुवनमोहिनी के अलावा सच्चे अर्थों में उनसे किसी ने प्रेम नहीं किया था। फिर उनके जीवन में उनकी पहली पत्नी शांति का आगमन हुआ। जिनके साथ इनका दाम्पत्य जीवन बहुत सुखी था। वे जल्द ही पिता भी बन गये परन्तु नियति को कुछ और मंजूर था। प्लेग की विभीषिका में पहले उनकी पत्नी शांति भेट चढ़ गई फिर इनका छोटा सा नवजात शिशु भी इन्हें छोड़कर चल बसा। इस प्रकार शरत के जीवन से स्नेह की छाव हट चुकी थी। शरत का जीवन फिर से गहन अन्धकार में डूब चुका था। इस तरह अपने जीवन को आवारा व्यक्ति के समान जीने तथा दर-दर की ठोकर खाने के बाद भी किसी को दुख नहीं देना चाहते थे। इसी अकेलेपन और कुण्ठा के कारण वे शराब और अफीम के आदि बन गये थे। शराब को वह नशा नहीं बल्कि दवा मानते थे।

अपने साहित्य में नारी का इतिहास लिखने की प्रेरणा उन्हें टॉल्सटाय से मिली थी। वे टाल्सटाय के "अन्नाकेरिनिना' और 'रिजरेक्शन' से ही 'नारी-मूल्य' और 'नारी के इतिहास' के प्रति आकर्षित हुए थे। जब वे रंगून में काम करते थे, तब वहाँ के बर्नार्ड लाइब्रेरी के एक कोने में बैठकर पढ़ते रहते थे। इसका उदाहरण कुछ इस प्रकार है –

> इन दिनों टाल्सटाय उसका प्रिय लेखक था। विशेषकर 'अन्नाकेरिनिना' और 'रिजरेक्शन, का प्रणेता होने के कारण। 'अन्नाकेरिनिना तो उसने पचास बार पढ़ी थी। इस साधना की छाप उसके साहित्य पर स्पष्ट देखी जा सकती है। 'नारी का मूल्य' और 'नारी का इतिहास' इनकी सामग्री उसने यही से एकत्रित की थी। (प्रभाकर 2016:56)

सभी साहित्यकारो में कोई न कोई खासियत होती है। इनकी सबसे बड़ी खासियत थी कि इन्होंने बदनाम गलियों की नारियों में भी नारीत्व की खोज की। न जाने कितनी अभागी नारियों का इतिहास उन्होंने संचित किया । शरतचन्द्र केवल अच्छे साहित्यकार ही नहीं, थे बल्कि अच्छे संगीतज्ञ भी थे। उन्होंने साहित्य की उपासना के साथ-साथ संगीत में भी विद्वता हासिल की थी। उन्होंने कालीदासी नामक नर्तकी से संगीत की तालीम पाई थी। देवदास की चन्द्रमुखी पात्र की सृष्टि की प्रेरणा इसी कालीदासी से मिली थी । परन्तु उनके पास रहकर उसने गीत सीखा और अपने मुंह से अपनी यह सुख्याति करते हुए भी वह नहीं झिंझके थे।

बंगाल से कृष्णदास अधिकारी नामक एक व्यक्ति रंगून अपनी पुत्री के साथ पैसा कमाने के उद्देश्य से आये थे। वे अत्यंत गरीब और दीन ब्राह्मण थे । एक बार शरतचन्द्र बीमार पड़े, तब मोक्षदा अर्थात् कृष्णदास की पुत्री ने उनकी सेवा की। उसी सेवा में शरत बाबू को भुवनमोहिनी का ममत्व तथा शांति का स्नेह दिखाई दिया। कृष्णदास के आग्रह के फलस्वरूप उन्होंने मोक्षदा को अपनी धर्मपत्नी के रूप में स्वीकार कर लिया था। यहाँ भी शरतचन्द्र ने कृष्णदास के उद्धार के लिए ही मोक्षदा से विवाह किया था। मोक्षदा देखने में सुन्दर नहीं थी परन्तु चिरस्नेहमयी थी। उनके इसी स्नेह के कारण शरदचंद्र ने उन्हें हिरण्यमयी नाम दिया था तथा उन्हें अपना शक्ति का केंद्र माना था। इतने महान साहित्यकार होने के बावजूद उन्होनें अपनी पत्नी को बराबरी का दर्जा दिया

था परन्तु अभी का पुरुषतांत्रिक समाज स्त्री को उपेक्षा की दृष्टि से देखते आ रहा है। कुछ पुरुषों के लिए वही सर्वेश्वर हैं। स्त्री तो भोग्या मात्र हैं। शरतचन्द्र उस समय में एक ऐसे व्यक्तित्व थे, जिन्होंने स्त्री के अस्तित्व की सराहना की थी। यही वजह है के उनकी रचनाओं में नारी अबला नहीं, सबला है। वह धैर्यशील सुशिक्षित होने के साथ-साथ कर्मठ भी हैं। शरत के इस खूबी का समर्थन जगदीश्वर चतुर्वेदी के इस कथन से सार्थक होता है –

> स्त्री की खूबी है कि वह अंतर्विरोधों में जीती है, और उन्हीं के बीच से अपने आगे का मार्ग प्रशस्त करती है। अंतर्विरोधों को वह मौलिक ढंग से हल करती है। उसे किसी काम में जल्दी नहीं होती। 'शॉर्टकट' उसकी प्रकृति का अंग नहीं है। दृढ़प्रतिज्ञता एवं धैर्य के सहारे वह आगे बढती रही है। (चतुर्वेदी 2018:3)

चरित्रहीन शब्द सुनते ही हमारे अन्दर मन और मस्तिष्क में खलबली शुरू हो जाती है। कुछ लोग तो चरित्रहीन शब्द को गाली से कुछ कम नहीं समझते हैं। परन्तु चरित्र आखिर है क्या? चरित्र का दूसरा नाम संयम हैं। चरित्र किसी मनुष्य के आचार, विचार, स्वभाव और व्यवहार की संहिता है। इसी चरित्र रूपी मानदंड से ही हम समाज में मनुष्य का आकलन करते हैं। सन् 1917 ई. में शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय का चरित्रहीन उपन्यास प्रकाशित हुआ और साहित्य जगत में खलबली मच गई। वैसे तो बंगला साहित्य में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बाद ही शतरचन्द्र को स्थान दिया जाता है, परन्तु उस समय बंगाल ही नहीं, बल्कि समूचा भारतवर्ष ही पुरानी परम्पराओं तथा रूढ़ियों से जर्जर था। बंगाल में अनेक कुप्रथाओं ने अपना दामन बिछा रखा था। शायद इन्हीं जीर्ण व्यवस्था को तोड़ने के लिए ही शरत बाबू ने ऐसा कदम उठाया था। शरतचन्द्र जब रंगून में कार्यरत थे, तो वह अपना जीवन मेस में व्यतीत करते थे। यहीं से उन्होनें 'चरित्रहीन' की रचना की थी। जब 'चरित्रहीन' की पाण्डुलिपि को भारतवर्ष पत्रिका के सम्पादक द्विजेन्द्रलाल राय ने पढ़ा, तो उन्होंने

कहा- अत्यंत अश्लील रचना है, किसी अच्छे पत्र में नहीं छप सकती। भद्र समाज में यह उपन्यास प्रकाशित नहीं किया जा सकता।

इसके उपरान्त जब उन्होंने अपने मित्र प्रमथनाथ को 'चरित्रहीन' पढ़ने के लिए भेजा तो उन्हें यह रुचिकर नहीं लगा कि उपन्यास के आरम्भ में ही मेस की दासी को लाकर खड़ा कर दिया गया है। शरत ने बड़े विश्वास के साथ इसका उत्तर देते हुए लिखा-

> जो आदमी मेस की दासी को आरम्भ में ही लाकर खड़ा करने का साहस करता है वह जान-बूझकर ही करता है। तुम उसका अन्त न जानकर उसको अर्थात सावित्री को मेस की दासी करके देखते हो। प्रमथ, हीरे को काँच कहकर भूल करते हो भाई। काउण्ट टालस्टाय का 'रेजरेक्शन' पढ़ा है ? उनकी यह सर्वोत्तम पुस्तक 'रेजरेक्शन' एक साधारण वेश्या को लेकर है। हमारे देश में अभी तक उस कला को समझने का समय नहीं आया है। मैं अनावृत कहकर आर्ट से घृणा नहीं कर सकूंगा। लेकिन जिसमें यह ठीक अर्थो में नैतिक हो ऐसा उपसंहार करूंगा। इससे पहले यदि कोई इस विषय में जरा भी सतर्क कर देता यानी कहता कि दासी को लेकर शुरू करना ठीक नहीं है तो हो सकता हैं, मैं दूसरे रास्ते पर जाने की चेष्टा करता । अब बहुत देर हो चुकी हैं। (प्रभाकर 2016:81)

शरतचन्द्र में सबसे विशिष्ट बात यह थी कि वह प्रेम को सच्चे अर्थो में समझते थे । परन्तु समाज में प्रेम को हेय दृष्टि से देखा जाता था, परन्तु शरतचन्द्र का प्रेम स्थूल या मांसल नहीं था। उनका प्रेम उच्चकोटि का था, जो अपने प्रिय को किसी भी कठिनाई में नहीं देख सकता । इसलिए मेस की दासी सावित्री, सतीश से सच्चा प्रेम करने के बाद भी कभी उसे एहसास होने नहीं देती कि वह उसके प्रति कितनी समर्पित हैं। वैसे तो 'चरित्रहीन' उपन्यास के केंद्र में दो नारी है। पहली नारी सावित्री, जो एक मेस में दासी के रूप में कार्यरत है, दूसरी नारी किरणमयी है, जो प्रेम पिपासु स्त्री हैं। दोनों ही स्त्रियाँ प्रेम की उपासना करती हैं। परन्तु दोनों के प्रेम में जमीन- आसमान का अन्तर है। क्योंकि पहली स्त्री सावित्री अपने प्रेमी सतीश के उज्जवल भविष्य की कामना करते हुए अपने प्यार की आहुति दे देती हैं।

वहीं दूसरी स्त्री किरणमयी अपने मृत पति हारान के मित्र उपेन्द्रनाथ के प्रति आकर्षित है। परन्तु जब उपेन बाबू उसके प्रेम की उपेक्षा कर देते हैं तो वह बदले की आग में जलकर उपेन के बालक के समान भाई दिवाकर को अपने साथ भगाकर अपने ही चरित्र को पददलित कर देती है। वैसे तो दोनों ही स्त्रियाँ हैं परन्तु दोनों के विचारो को पाँटने का प्रयास शरत बाबू ने किया हैं। समाज में प्रेम को उस समय हेय दृष्टि से देखा जाता था, शरतचन्द्र इसका समर्थन करते थे जिस वजह से उन्हें भर्त्सना का शिकार होना पड़ा था।

'चरित्रहीन' उपन्यास में जिन व्यक्तियों के लिए चरित्रहीन शब्द आया है, वास्तव में उनका ही चरित्र सबसे उज्जवल और सशक्त है। इसलिए मेस की दासी सावित्री को विपिन बाबू द्वारा पैसे का प्रलोभन दिये जाने के बाद भी उसका चरित्र मलिन नहीं होता। वह चाहती तो अपने दैन्य भाव की पूर्ति के लिए भोग्या बन सकती थी परन्तु उसने यह घृणित प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया और अपने एकनिष्ठ प्रेम के प्रति अडिग रही। इसी प्रकार सतीश अपने सच्चरित्र के कारण सरोजिनी के इतना चाहने के बाद भी उसे वह स्थान नहीं दे सका जो उसने सावित्री को दिया था। ठीक उसी प्रकार किरणमयी दिवाकर के साथ भागकर एक ही कमरे में एक साथ रहने के बाद भी सम्बंध स्थापित नहीं कर पाई कहने का तात्पर्य यह है कि उसे दाम्पत्य का सुख नहीं दे पायी। इस कथन की पुष्टि इस प्रकार शरतचन्द्र ने की है –

> इसी समय किरणमयी अपनी कोठरी से बाहर निकली। अवस्था के बदल जाने से मनुष्य में शारीरिक, मानसिक सब प्रकार का परिवर्तन कितना शीघ्र और आश्चर्यजनक ढंग से हो जाता है, यह देखकर चकित हो जाना पड़ता है। आज उसकी ओर देखकर सहसा कौन कहेगा कि यह वही सौन्दर्य की मूर्ति किरणमयी हैं। छः महीने पहले यही गए दिन समाज और धन का अपमान, मनुष्यत्व को पैरों से कुचलकर एक मूर्ख, अपरिणामदर्शी युवक के रूप और प्रेम के मोह में फंसकर, सब प्रकार की सार्थकताओं से वंचित कर यहां लाई थी। आज उस धोखाधड़ी की फांसी को किरणमयी स्वयं अपने ही हाथों अपने गले में लगा बैठी। पाप के साथ असफल क्रीड़ा करते रहने के कारण दिवाकर के हृदय के भीतर से आज

> वासना का राक्षस बाहर निकल आया है। उससे आत्मरक्षा करने के लिए उसके साथ दिन-रात लड़ते-लड़ते किरणमयी अब जर्जर हो गई हैं। (चट्टोपाध्याय 2014:267)

कुछ ऐसा ही हाल हमारे उपेन्द्र बाबू का है, जो अपनी धर्मपत्नी सुरबाला से इतना प्रेम करते थे की क्षय रोग से सुरबाला की मृत्यु हो जाने के बाद उन्होंने अपना जीवन में किसी और के साथ न व्यतीत करके स्वयं भी परलोक अर्थात् सुरबाला के पास ही चले जाते हैं। मानो जाते हुए सुरबाला से उन्होंने जल्द ही आने का वादा किया हो ।

कुछ ऐसे ही प्रेम की वर्णना हमारे शरत बाबू करते थे, जिनमें ईश्वरीय प्रेम की झलक दिखाई देती थी ! जो पाठको को मानो बाँधे रखता हो । जिसे एक बार पढ़ना शुरू कर दे तो जब तक उसके अन्त:स्थल तक ना पहुँच जाये तब तक उसे छोड़ नहीं सकते । तो कुछ ऐसे ही जादूगर प्रवृत्ति के साहित्यकार थे शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय जी ।

'चरित्रहीन' शब्द सुनने में जितना असहनीय है, उतना ही आपत्तिजनक भी। जिस व्यक्ति पर इस शब्द का आरोपण हो जाता है, उसे समाज के लोग हेय दृष्टि से देखने लगते हैं भले ही उसमें वास्तविकता हो या नहीं हो। समाज का काम ही है लांछण लगाना परन्तु अगर एक बार कोई इसकी आहुति चढ़ गया तो उसका जीवन भी सावित्री जैसा ही दयनिय हो जायेगा। यहाँ लोग वास्तव में चरित्रहीन नहीं है। समय ने अपना रुख कुछ इस प्रकार मोड़ लिया की उन्हें समाज की नजरों में चरित्रहीन बनना पड़ता हैं परन्तु वास्तव में उनका चरित्र गंगा जितना ही पवित्र है लेकिन समाज तो उन पर चरित्रहीन होने की मोहर लगा चुका है । उपन्यास के निम्न अंश से इस बात को समझा जा सकता है –

> सतीश समझ गया कि विपिन की जमात वाले आ पहुंचे हैं उसे लिवा ले जाने के लिए । आगे- पीछे की कोई बात न सोच उसने झट मुंह से फूंक मारकर रोशनी गुल कर दी और सारा शरीर एक कंबल से ढककर सो गया। थोड़ी दूर पर बैठी हुई सावित्री व्याकुल होकर बोली, 'अरे! यह क्या किया आपने?"
>
> .....

> पहला आदमी घर में घुसकर ज्योंही दियासलाई जलाने लगा, त्योंही सावित्री उठ खड़ी हुई। दूसरे आदमी ने जरा हटकर पूछा, ' सतीश बाबू कहां हैं?' सावित्री चुपचाप बिस्तर की ओर संकेत करके बाहर चली गई। उसके जाते ही दोनों ने ठठाकर हंसना शुरू कर दिया। उस हंसी का शब्द और अर्थ सावित्री के कानों में जा खटका। सतीश कम्बल के भीतर बारम्बार अपने लिए मृत्यु बुलाने लगा। उन लोगों ने कम्बल खींचकर अलग फेंक दिया और सतीश को जबरदस्ती पकड़कर ले चले। जब तक उनकी विकट हास्य- ध्वनि एकदम घर से बाहर निकल वायु- मंडल में न मिल गई, तब तक सावित्री एक अंधेरे कोने में दीवार से सिर लगाकर इस प्रकार खड़ी रही, जैसे उसके सिर पर वज्रपात हुआ हो। (चट्टोपाध्याय 2014:23)

यहां सावित्री स्त्री होने का दंश झेल रही थी । जहाँ बिना कुछ हुए ही मानो वह दोषी करार दी गई हो। वहाँ सतीश के कमरे में अगर पुरुष रहा होता तो शायद उसे इस कु-दृष्टि से न डाली जाती। इस तथ्य का आकलन जगदीश्वर चतुर्वेदी के इस कथन से सार्थक होता है –

> पुरुषवादी नजरिए से सामान्य मानवीय व्यवहार वह था जो स्त्री का ध्वंस करे, हेय माने, छद्म व्याख्या के जरिए उसके सत्य को छिपाए। इस प्रक्रिया की परिणति यह हुई कि स्त्री खंडित हुई। स्त्री की उपेक्षा हुई, स्त्री सभ्यता अधूरी नजर आने लगी। हमने मानव सभ्यता को तो माना मानवी सभ्यता को उपेक्षित छोड़ दिया। साहित्य में स्त्री का जो रूप उभरा वह आमतौर पर स्टीरियोटाइप था। स्टीरियोटाइप के कारण ही स्त्री के हितों की उपेक्षा हुई। स्टीरियोटाइप रूपायन अन्य के हितो को नजर अंदाज करता है। वास्तव को छिपाने का काम करता हैं। (चतुर्वेदी 2018:5)

शरत बाबू के उपन्यासों की सभी नारी पात्र सुशिक्षित होती हैं। जैसे सावित्री मेस में दासवृत्ति का कार्य करने के पश्चात भी बचे हुए समय में पुस्तकों का अध्ययन करती थी। किरणमयी संस्कृत का ज्ञाता होने के साथ-साथ महाकाव्यों में रुचि रखती है । सुरबाला भी धार्मिक प्रवृत्ति की नारी होने के कारण धार्मिक ग्रन्थों का गहन अध्ययन करती है । वही और एक नारी पात्र है सरोजिनी जिसने पाश्चात्य शिक्षा पाई है लेकिन वह भी अन्दर से भारतीय नारी ही हैं। यह स्त्रियाँ

प्रारम्भ में तो अत्यंत कोमल प्रवृत्ति की होती है लेकिन अन्त में अत्यंत ही सशक्त भूमिका अदा करती है। इसलिए शरतचन्द्र की स्त्रियाँ सबला हैं अबला नहीं।

समाज में स्त्री की अस्मिता को मां, बहन, बेटी, पत्नी और रखैल की कोटियों से बाहर निकालकर उसे स्वतंत्र मानसिकता प्रदान करना होगा। हमारा पुरुषवादी समाज ऐसा हैं, जो खुद तो स्वतंत्र जीवन यापन करता है परन्तु जब स्त्री की बारी आती है, तो वह उसे स्त्री की प्रताड़ना देकर उसके अधिकारों पर अंकुश लगा देता है। उस समय की स्त्रियाँ इसे सहन भी कर लेती है। लेकिन वर्तमान समय में ऐसा नहीं है। पुरुषतान्त्रिक समाज में चाहे वह पिता हो, भाई हो ,या पति हो, या पुत्र उसका कर्तव्य तो यही होना चाहिए की वे स्त्री को संरक्षण प्रदान करे तथा उसका सही मार्ग दर्शन करें।

कभी-कभी पुरुष समाज की गलतियों की सज़ा भी स्त्री को ही भुगतनी पड़ती हैं। जैसे किरणमयी के पति हारान एक दार्शनिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। उन्होंने अपनी रूपवती पत्नी किरणमयी को कभी पत्नी के रूप में देखा ही नहीं था। वह उनसे गुरु के समान व्यवहार करते रहे और उसे अपनी शिष्या मानते थे। दोनो में यहीं परम्परा चलती रही। उन्होंने कभी उसे पत्नी का दर्जा दिया ही नहीं। स्त्री के साथ शोषण केवल पुरुष समाज ही नहीं बल्कि स्वयं स्त्री समाज भी करता है। जब किरणमयी नववधू बनकर इस घर में आयी, तो उसकी सास अघोरमयी उसके साथ अमानुषिक व्यवहार किया।

उसे हर एक गलती के लिए जलील करती थी। किरणमयी भी चुपचाप सब सहती रही। इसका सबसे बड़ा कारण शायद यह था कि उसने हारान को कभी अपने स्वामी के रूप में नहीं पाया था, इसलिए वह उनसे शिकायत भी नहीं कर सकती थी। किरणमयी का विवाह तो अपरिपक्व अवस्था में हुआ था, इसलिए वह प्रेम के अर्थ को नहीं समझ पाती थी। परन्तु जब उसमें प्रेम रूपी तृष्णा ने जन्म लिया तब शायद बहुत देर हो चुकी थी तब हारान रोग की जर्जर अवस्था प्राप्त कर चुके थे। अपने प्रेम रूपी तृष्णा को मिटाने तथा अपने संसारिक जरूरतों को पूरा करने का जरिया उसे डॉक्टर अनंगमोहन के रूप में दिखाई देता हैं। डॉक्टर भी उसके रूप सौन्दर्य में भाव-

विभोर होकर डूब जाते हैं। अघोरमयी और दासी को सब पता होता है परन्तु वह अपने संसारिक आवश्यकताओं के लिए चुप रहती हैं और इस नाजायज सम्बंध को आश्रय देती हैं।

क्या इस स्थिति के लिए दोषी केवल किरणमयी ही है? यदि कोई उसके देवी तुल्य चरित्र को भ्रष्ट कर देता है, क्या इसके पीछे केवल वह खुद जिम्मेदार है? अघोरमयी तो किरणमयी से उम्र में बड़ी और समझदार थी। उसने ही ऐसा अनिष्ट क्यों होने दिया ? अपनी कुलवधू की मर्यादा को क्यों तार-तार होने दिया ? इस घटना का वर्णन शरत कुछ इस प्रकार करते हैं –

> लड़कपन में किरण पराये घर पाली -पोसी गई और लड़कपन में ही उससे भी अधिक पराये स्वामी के घर आई थी। सास अघोरमयी ने कभी उसको प्यार नहीं किया, बल्कि जहां तक हो सका, उसे सताती रही। पति ने कभी उस पर प्रेम नहीं प्रकट किया। वे दिन में स्कूल में पढ़ाते और रात को स्वयं अध्ययन करते थे और अपनी स्त्री को भी पढ़ाया करते थे। विद्या प्राप्ति के नशे में उन्हें ऐसा दबा लिया था कि दोनों गुरु शिष्य के कठोर सम्बंध के सिवा पति-पत्नी के मधुर सम्बंध को विकसित होने या फूलने-फलने का कभी भी अवकाश न मिल सका। इसी प्रकार वह परम सुंदरी और तीक्ष्ण बुद्धि वाली रमणी बालपन बिताकर पूर्ण यौवन के मध्य में पहुंची थी, इसी प्रकार संसार के सौन्दर्य-माधुर्य से निर्वासित होकर शुष्क बन गई थी और इसी प्रकार स्नेह और प्रेम से वंचित होकर ही वह नारी के श्रेष्ठ धर्म से हाथ धो लेने को तैयार बैठी थी। (चट्टोपाध्याय 2014:88)

जब किरणमयी को अपने मिट्टी पलीद होने का ज्ञान हुआ, तब तक शायद बहुत देर हो चुकी थी। जब डॉक्टर किरणमयी से हंसी का बहाना दिखाकर कहा – आप क्यों कहती हो। यहां और कोई उपस्थित नहीं है, तुम कहने से भी दोष नहीं होगा। लेकिन इतने दिनों तक मैं क्या मांगता रहा हूं, सुनूं ? वह क्या रुपया था? पुन: किरणमयी का समूचा शरीर कांप उठा।

यह वही क्षण था किरणमयी को अपने नारीत्व से घृणा हो रही थी। वह जिस श्रृंगार – सौन्दर्य के प्रलोभन हेतु ऐसा अमानवीय कृत्य कर रही थी उसी ने मानो उसे जोर का थप्पड़ मार

दिया हो। उसने भी कुछ बिना सोचे समझे अपने आभूषण लाकर डॉक्टर अनंग के पैरो के समक्ष पटक दिया। जिस श्रृंगार और भौतिक सुख-सुविधा के लालच में उसने डॉक्टर के साथ यौन सम्बंध स्थापित किया था। उसने उस भौतिक सुख सुविधा की जड़ों को ही काँट दिया था। वह चाहती तो बिना डॉक्टर अनंगमोहन से शारीरीक सम्बंध स्थापित किये ही अपने आभूषणों को बेचकर पति का अच्छे से अच्छा इलाज भी करवा सकती थी और अपने घर के भौतिक आवश्यकताओं को भी पूरा कर सकती थी। परन्तु परिस्थितियाँ उस पर कुछ इस प्रकार हावी थी कि वह अपने अन्दर की वासना के स्त्रोत को रोक नहीं पाई और ऐसा जघन्य कार्य कर बैठी। यह वही क्षण था जब किसी स्त्री ने अपने आभूषणों का त्याग किया था। यह केवल आभूषण ही नहीं थे मानो उसके बचे हुए नारीत्व के अवशेष थे। जिसे उसने डॉक्टर अनंगमोहन को देकर उसके ऋण से मुक्ति पा लिया था। उस समय के समाज में बालविवाह का प्रचलन था। इसलिए शरतचन्द्र ने भी अपने उपन्यास में बालविवाह का चित्रण किया हैं। 'चरित्रहीन' उपन्यास में सावित्री भी एक बाल विधवा ही थी। और किरणमयी का विवाह भी हारान के साथ अल्प आयु में ही हुआ था। कहने का तात्पर्य यह है कि उस समय के समाज में बालविवाह का प्रचलन था। उस समाज में विधवाओं को बहुत ही हेय दृष्टि से देखा जाता था। उसे कुलकलंकिनी, लांछिता तथा कर्मजली की संज्ञा दी जाती थी। विधवाओं को किसी भी शुभ कार्य में शामिल नहीं किया जाता था। उस समय विधवा विवाह का प्रचलन भी नहीं हुआ था। विधवा विवाह को प्रचलन में लाने के लिये आन्दोलन हो रहे थे। कुछ वर्ग इसका विरोध कर रहे थे तो कुछ वर्ग समर्थन कर रहे थे।

प्रेम भी कितना अद्भूत है! यह चाहे तो मनुष्य से कुछ भी करवा ले। राखाल बाबू के बाड़ी में काम करते हुए सावित्री का परिचय कितने युवकों से हुआ होगा, परन्तु ऐसी क्या खासियत थी सतीश में जिसने सावित्री के मन को मोह लिया। वैसे तो सतीश बहुत गुस्सैल मिजाज़ का लड़का था, परन्तु सावित्री के सामने उसकी एक भी नहीं चलती थी। सतीश के नहाने से लेकर, भोजन से लेकर तथा स्कूल जाना और संध्या पूजा का प्रबन्ध भी सावित्री अपने हाथों से करती थी। केवल इतना ही नहीं सतीश की तिजोरी की चाबी भी सावित्री अपने पास ही रखती थी। दोनों का प्रेम इतना प्रगाढ़ था कि दोनों एक दूसरे के पूरक थे। सावित्री में सतीश के प्रति माता का ममत्व, पत्नी के

समान स्नेह तथा बड़ी बहन के समान अनुशासन था। वह सतीश से जितना प्रेम करती थी शायद दुनिया में इतना प्रेम कोई किसी से नहीं कर सकता था। परन्तु जो सावित्री सतीश के हाथ बिन मोल बिकी हुई थी। ऐसी कौन सी विपदा आ पड़ी थी जो उसे छोड़ कर जाना पड़ा ? जो अपराध उसने विपिन बाबू के साथ कभी भी नहीं किया था। हां भले ही विपिन बाबू की दृष्टि सावित्री के ऊपर एकटक लगी हुई थी। एक बार तो विपिन बाबू का उन्माद इतना बढ़ गया था कि सावित्री की अनुपस्थिति में अपने दो-चार दोस्तों को साथ लिए शराब पीकर मतवाले हो गए तथा सावितो की मौसी मोक्षदा के हाथों में दो नोट रख दिए। जब सावित्री ने दिन के बारह बजे अपने मकान में घुसकर देखा, तो मकान में पुराने किराएदार औरतें तथा मोक्षदा शराब के नशे में गाली-गलौच कर रही थी। सारे मकान में, कही उरद का दाना, कहीं बत्तख के अंडों के छिलके, कहीं मछलियों के कांटे, कहीं केकड़ों की हड्डियाँ बिखरी पड़ी हैं । विपिन शराब पीकर मतवाला होकर सावित्री के बिस्तर पर लेटा हुआ था। यहीं से सावित्री के जीवन में त्रासदी की शुरूआत हो जाती है। यहाँ से सावित्री का संघर्ष दोहरा हो जाता है। एक संघर्ष सावित्री समाज से करती है और दूसरा संघर्ष वह अपने अंतर आत्मा से करती है। उसके हृदय में सतीश के लिए स्थान होने के बावजूद वह यह बात सतीश को नहीं बता पाती हैं। सतीश भी सन्देह के चक्रव्यूह में फँसकर उसे चरित्रहीन स्त्री समझने लगता है। परन्तु वास्तविकता का ज्ञान तो सतीश के बूढ़े नौकर बिहारी को होता है। परन्तु सतीश के कल्याण के लिए सावित्री बिहारी को उसके सिर की सौगन्ध दे देती है। बिहारी भी सावित्री से पुत्री के समान स्नेह करता है और उसे माँ बोलकर सम्बोधित करता है।

सतीश बाबू के मान-सम्मान की रक्षा हेतु सावित्री राखालबाबू की बाड़ी में काम करना छोड़ देती हैं। किसी के सम्मान की रक्षा हेतु अपनी एकमात्र जीविका को त्यागना बहुत ही कठिन कार्य होता है परन्तु सावित्री तो देवी है कुछ भी कर सकती हैं। जब दूसरी बार सावित्री बीमार अवस्था में सतीश के घर बिहारी से तीस रुपये उधार माँगने आई तो एक घटना घटती है। वैसे तो बीमारी के कारण सावित्री का शरीर जीर्ण-शीर्ण अर्थात वह सूखकर काठ हो गई थी। उसने सतीश की अनुपस्थिति में उसके घर के सारे कार्य कर दिये लेकिन इसकी भनक सतीश बाबू को नहीं थी।

यहाँ परिस्थिति ने अपना रुख फिर से मोड़ लिया था। क्या हालत थी सतीश की ? काटो तो खून नहीं ! उसने दुनिया में सबसे अधिक सम्मान अपने उपेन भैया का ही किया था । क्या सोच रहा होगा उसके बारे में उपेन? यह उपेन बाबू की सोच ही हमारे खोंखले समाज की देन है। इतने आधुनिक और शिक्षित होने के बावजूद कैसे उपेन ने सतीश पर उसके चरित्रहीन होने की मोहर लगा दी? क्या वजह थी ? वे चाहते तो इस समस्या के तह तक जा सकते थे? अगर तह तक नहीं जा सकते थे तो सतीश से इस विषय में बात तो अवश्य कर सकते थे, परन्तु उसने ऐसा नहीं किया। अपनी शक की सूँई सतीश के ऊपर टिकाकर उसे चरित्रहीन करार दे दिया ।

उपेन्द्र की नजर में सतीश और सावित्री दोनों गिर चुके थे। इसका एक और कारण था कि राखाल बाबू सतीश और सावित्री के नाजायज रिश्ते की खबर बहुत पहले एक पत्र के माध्यम से उपेन को दे चुके थे। शायद यही कारण था उपेन के इस नजरिए का। उपेन की जान-पहचान के कारण उपेन की अनुपस्थिति में सतीश हारान बाबू की सूधी लेने के लिए किरणमयी के यहाँ जाने लगा। देखते-देखते दोनों के बीच प्रगाढ़ स्नेह उत्पन्न हो जाता है और सतीश किरणमयी को अपनी बड़ी बहन का दर्जा दे देता है और खुद स्वयं उसका भाई मान लिया है।

एक दिन जब बातों ही बातों में सतीश के मुंह से उसे उपेन्द्र और सुरबाला के प्रेमभाव की जानकारी मिलती है, तब वह सुरबाला के सतीत्व के बारे में सुनकर विमुग्ध हो जाती है और उसे अपना गुरु मान लेती हैं। सुरबाला के पातिव्रत्य से प्रेरणा लेकर वह मृत्यु शय्या पर लेटे अपने पति हारान से प्रेम करने लग जाती है और अन्त समय तक पतिव्रता धर्म का पालन करती है। किरणमयी की पतिव्रता देखकर उपेन्द्र और सतीश आश्चर्य में पड़ जाते हैं। परन्तु होनी को कौन टाल सकता हैं? असमय हारान इस संसार के मोह-माया को त्याग देते हैं। एक तरफ से वह निश्चिंत थे क्योंकि अपने परिवार की जिम्मेदारी वह उपेन्द्र को देकर आये थे। उपेन्द्र अपने जिम्मेदारी का निर्वाहन अत्यंत लगन के साथ कर रहे थे। उसकी मानवता के प्रति किरणमयी अचानक आकर्षित होने लग जाती है और अंत में उससे प्रेम करने लग जाती है। इसका परिणाम अंत में अत्यंत ही वीभत्स होता है ।

प्रेम भी एक ऐसी विरह की ज्वाला है, जिसमें जो कुछ अप्राप्य है उसे ही पाने की इच्छा बार-बार होती है। जैसे हम भगवान की पूजा अर्चना जब करते हैं तो हमें यह मालूम नहीं होता है कि वह ईश्वर हमें मिलेंगे या नहीं मिलेंगे ? उनकी कृपा हमारे ऊपर होगी भी या नहीं होगी परन्तु हमारी आस्था उन्हीं पर टिकी होती है । भगवान को कोई पा नहीं सकता, इसीलिए मनुष्य सब कुछ देकर उनको पाना चाहता है। इसलिए किरणमयी भी उपेन्द्र के अप्राप्य होने के कारण ही उससे इतना प्रेम करती है। परन्तु उपेन्द्र का प्रेम भी तो अपनी धर्मपत्नी सुरबाला के लिए उतना ही सत्य था, जितना वेदों के मंत्र। वह ही अपने प्रेम को एक अपरिचीता नारी के लिए क्यों मलिन होने देता।

> हमारे समाज में कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो जान-बूझकर दूसरों के लिए अंधा कुआं खोदने का कार्य करते हैं। इसका सबसे बड़ा उदाहरण है सावित्री की बड़ी बहन का पति भुवन मुखोपाध्याय है, जो सावित्री की दुर्गति का सबसे ज्यादा जिम्मेदार है। मोक्षदा उपेन्द्र के समक्ष इस बात की पुष्टि करती है (चट्टोपाध्याय 2014:251-252)।

मोक्षदा की बातों से उपेन्द्र की भ्रम रूपी पट्टी उतर चुकी थी। अब उन्हें अपनी गलतियों का एहसास हो चुका था जो उन्होनें जाने अनजाने में सावित्री और सतीश के साथ किया था। इस गलती का पश्चाताप वह सावित्री को अपनी बहन मानकर तथा मरते वक्त सावित्री की गोद में प्राण त्याग करते हैं। सावित्री भी अन्तिम समय में उपेन्द्र को अपना बड़ा भैया मानकर सस्नेह सेवा करती हैं और उनको अंतिम विदाई देती हैं।

शरत बाबू ने अपने साहित्य में स्पष्ट रूप ये यह अंकित किया हैं कि पुरुषों के बनाए हुए झूठे शास्त्र केवल स्त्रियों को बांध रखने की बेड़ियाँ हैं। जिस प्रकार हो, उन्हें रोक रखकर उनसे सेवा लेने की जाल है । सतीत्व की महिमा केवल स्त्रियों को बतलाई जाती है, पतिव्रता नारी का पाठ केवल भोली-भाली स्त्रियों को पढ़ाया जाता है । परन्तु इस ढोंगी समाज में पुरुषों के लिए कुछ नहीं है। यह सब धोखा है। इसी अन्याय के प्रति उन्होंने युद्ध करने की घोषणा की और सचमुच वे जीवन-भर लड़ते रहे। इसी कारण सही अर्थो में वे नारी जाति के मसीहा बन गए। इसी समाज के सभी वर्गो की

नारियों से सदा उनके आत्मीय सम्बंध बने रहे। उनकी कहानियां सुनने को वे नारियाँ हमेशा लालायित रहती थी। ऐसा निःस्वार्थ, उदार तथा देवता तुल्य मनुष्य इससे पहले किसी ने नहीं देखा था।

शरत बाबू द्वारा हमेशा से ही नारियों के आत्मनिर्भरता पर जोर दिया गया है। उन्होंने हमेशा स्त्रियों को अपनी पहचान बनाने के लिए उत्साहित किया है। वहीं यशपाल को इस बात पर सख्त आपत्ति थी कि स्त्री को पुरुष-सन्दर्भ के जरिए पहचान दी जाए। उन्होनें लिखा हैं –

> आपकी संस्कृति में नारी का गौरव उसके अपने व्यक्तित्व में नहीं हैं। उसका गौरव किसी की श्रीमती बन जाने में ही हैं। वह किसी की बेटी, किसी की बहू, किसी की माँ हैं। वह स्वयं कुछ नहीं हैं। आपके समाज में नारी को उसके व्यक्तिगत नाम से पुकारना उसका अपमान है। उसे अमुक की श्रीमती, अमुक की माँ या अमुक की बहन कहना ही उसका सम्मान हैं। अर्थात नारी अपने व्यक्तित्व को प्रकट करे तो वह निर्लज्जता हैं। वह पुरुष की छाया में छिपी रहे तो उसका सम्मान हैं। कैसी गुलामी सिखा दी है आपने स्त्री को...। (चतुर्वेदी 2004:316)

यशपाल ने इस प्रकार समाज की इस भोंदी व्यवस्था पर व्यंग्यात्मक ढंग से प्रहार किया है।

शरत बाबू में इतने गुण होने बाद भी कुछ अवगुण भी थे। जिस प्रकार सृष्टिकर्ता ईश्वर में भी कुछ कमियाँ रहती हैं। वे तो मनुष्य थे, फिर वे इस त्रुटि से कैसे वंचित रह सकते थे। वैसे तो उन्हें जीवन के शुरुआती दौर में अनेक आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा था। उनके जीवन के प्रथम पर्व में ही उनके माता-पिता की मृत्यु हो चुकी थी। गृहस्थी में धन का अभाव होने के कारण वह अपने छोटे-छोटे भाई-बहनों को अपने रिश्तेदारों के पास छोड़कर जीविकोपार्जन के लिये भटकते रहे। उस समय भी वह साहित्य लिखते थे परन्तु उनका नाम साहित्य में उच्च शिखर पर नहीं पहुँचा था। उन्होंने रंगून में अपने मौसा के पास आश्रय लिया जो पेशे से वकील थे। वहाँ पहुँचने के तीन महीने बाद उन्हें रेलवे के ऑडिट ऑफिस में काम मिल गया किन्तु यह नौकरी डेढ़ वर्ष भी न चल सकी। वे बर्मी भाषा की परीक्षा में फेल हो गए और वकील भी न बन सके। बर्मा में रहते हुए उन्होंने

कई छोटी-छोटी नौकरियाँ कीं। एक समय शरत ने चाय की दुकान भी खोली, लेकिन उसे चलाने में असफल रहे हैं। उनकी पहली रचना 'बड़ी दीदी' प्रकाशित हुई। इसके बाद 'यमुना' पत्रिका में शरत की एक और पुरानी कहानी "बोझ" प्रकाशित हुई। फिर 'रामेर सुमति', 'बाल-स्मृति', 'हरिचरण', ' काशीनाथ', 'चन्द्रनाथ', 'अनुपमा का प्रेम', 'चरित्रहीन', 'विराज बहू' इत्यादि रचनाएँ प्रकाशित हुईं। इन रचनाओं ने शरत बाबू को स्वनामधन्य कथाकार के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया।

इनके उपन्यासों में एक बात ध्यान देने योग्य हैं कि इन्होंने कभी भी नायक और नायिका के प्रेम को अन्तिम परिणति नहीं दी, कहने का आशय है उन्हें अधूरा ही छोड़ दिया था। जैसे चरित्रहीन उपन्यास में सतीश और सावित्री का प्रेम इतना गहरा होने के बाद भी अंतिम समय में दोनों का मिलन नहीं हो पाता है। उपेन्द्र को सारी सच्चाई का पता होने बाद भी वह सावित्री को अपने साथ ले जाते हैं। उपेन्द्र रोग की जर्जरता को भोग रहे थे। वे चाहते तो उनके लिए सेवक की व्यवस्था, आसानी से करवा सकते थे। परन्तु नहीं उन्होंने सावित्री को अपनी बहन का दर्जा भी दिया। लेकिन एक भाई होने के नाते, उन्हें सतीश और सावित्री की पसंद को ध्यान में रखते हुए उन दोनों को मिला देना चाहिए था, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। उपेन्द्र ने अपने मित्र ज्योतिष की बहन सरोजिनी का विवाह सतीश से तय किया, क्योंकि सरोजिनी सतीश से प्रेम करती थी। और सावित्री ने भी अपने भैया के अन्तिम इच्छा को ध्यान रखते हुए अपनी एक मात्र प्रेम की आहुती दे दी। कुछ ऐसा ही गुण होता हैं आदर्श भारतीय नारी का जो अपने सभी सुखों की चिन्ता किये बिना परिवार और समाज को खुश रखती हैं। आखिर सावित्री का दोष क्या था?उसके पास तो उसका परिवार भी नहीं था, परन्तु सरोजिनी के पास तो परिवार भी था। सरोजिनी को प्रेम करने के लिए ज्योतिष का मित्र शशांकमोहन था परन्तु सावित्री तो विधवा थी उससे अब दोबारा कौन प्रेम करेगा? वह अपना जीवन अब किसके सहारे बितायेगी ? इस अधुरे प्रेम का एक और कारण यह था कि शरत बाबू ने स्वयं एक स्थान पर स्वीकार किया हैं की उनकी रचनाओं के नब्बे प्रतिशत पात्र और घटनाएँ जीवंत है। साहित्यकारों के मध्य इस बात को लेकर मतभेद है कि जीवन के आरम्भिक

समय में शरतचन्द्र ने भी प्रेम किया था। उनका प्रेम असफल होने के कारण उनके पात्रों में भी यह विशेषता दिखाई देती है। उदाहरण के लिए, निरूपमा देवी से शरत के सम्बंध को देखा जा सकता है। जीवन के पहले पर्व में ही बाल -विधवा निरूपमा देवी से शरत का परिचय हुआ। निरूपमा उस साहित्यिक गोष्ठी की सदस्या थी जिसका संचालन शरत करते थे। वह उनकी रचनाएँ पढ़कर अभिभूत होती रहती थी । शरत उसकी कविताओं की प्रशंसा करते थे । इसी में प्रेम का अंकुर फूट निकला ।

शरत वहाँ से लौट आए। वे जीवन भर निरूपमा को भूल नहीं सके। इसका एक प्रमाण मिलता है । शरत के उपन्यासों के नारी चरित्रों का वह टाइप जो असफल प्रेम की वेदना की प्रतिमाओं के रूप में सामने आया है, जैसे 'देवदास की 'पारो', बड़ी दीदी की 'माधवी'. और तीसरा है चरित्रहीन की 'सावित्री'। दूसरा प्रमाण है शुभदा के प्रकाशन के प्रति उनका अनुत्साह । शरत का कहना था कि 'शुभदा के प्रकाशन से एक व्यक्ति की हानि हो सकती थी और यह व्यक्ति निरूपमा देवी थी। उन्होंने अपने जीवन के अंतिम समय में रामकृष्ण को "शुभदा" की पाण्डुलिपि को जलाने का आदेश दिया था। वैसे तो वह उस रचना को हमेशा अपने साथ लेकर घूमा करते थे। निरूपमा देवी ने 'शुभदा' की पाण्डुलिपि को पढ़ा और उससे प्रेरणा लेकर 'अन्नपूर्णा का मंदिर' की रचना की थी। अपनी इस रचना पर शुभदा के प्रभाव स्वीकार किया था।

शरतचन्द्र के उपन्यासों में विधवाएँ प्रेम तो करती हैं, किन्तु विवाह नहीं कर पातीं । शायद शरतचन्द्र इस अधूरे प्रेम को कभी पूर्णता देना ही नहीं चाहते थे। 'चरित्रहीन' के अंत में किरणमयी का अंत भी बहुत कष्टदायक होता हैं। उस समय समाज में वेश्यावृति का बोल-बाला था। जब किरणमयी दिवाकर के साथ भागकर आराकान पहुँच जाती हैं तब उसकी मकान मालकिन उसके सुन्दरता पर मुग्ध हो जाती हैं। जब उसे पता चलता है कि दिवाकर और किरणमयी पति-पत्नी नहीं हैं। तब वह उसके घर की दयनीय स्थिति को देखकर उसे वेश्यावृत्ति के मार्ग पर ढकेलने का प्रयत्न करती हैं। कामिनी मकान-मालकिन भी वेश्यावृत्ति करके ही पैसे अर्जन करती है। वह किरणमयी के लिए किसी मारवाड़ी नामक ग्राहक का भी इन्तेजाम कर देती है। यह वही समय था जब किरणमयी

को अपने गलती का एहसास हो रहा था जो वह जाने अनजाने में एक अबोध बालक को अपने रूप और सौन्दर्य के पाश में फँसाकर ले आयी परन्तु उसे वह स्थान नहीं दे सकी जो उसने उपेन्द्र को दिया था। अंत में वह उसके वासना को शांत नहीं कर पाने के कारण घर से धक्का देकर बाहर निकाल देती है और वह खुद वेश्यावृत्ति के दलदल में जा गिरती है। जब उसे इन परिस्थितियों का ज्ञान होता है, तो वह हतबुद्धि-सी हो जाती हैं।

शरत बाबू एक स्थान पर स्वीकार भी करते हैं कि वे घनिष्ठ रूप से इन चरित्रों के सम्पर्क में आए हैं और इसी कारण उन्होंने अत्यंत तीव्रता से यह अनुभव किया है कि ये वेश्याएँ समाज की सबसे अधिक शोषित और सबसे अधिक अत्याचार-पीड़ित नारियाँ हैं।

किरणमयी और दिवाकर को सतीश जब अंतिम समय में वापस लौटाकर ले आता है तब उपेन्द्र मृत्यु शैया पर लेटे रहते है। उनका परलोक जाने का समय निकट होता है। किरणमयी को जब उपेन्द्र की अस्वस्थता के बारे में पता चलता है, तब वह अपना मानसिक संतुलन खो देती हैं। किरणमयी गंगा घाट के में जाकर सबसे पूछती है क्या ईश्वर है? मैं भगवान से दिन-रात प्रार्थना करती हूं कि उनके निकट मैंने अनेक अपराध किए हैं, इसी से उनकी बीमारी मुझको देकर उन्हें अच्छा कर दें। क्या ऐसा हो सकता हैं? उपवास करके दिन-रात पुकारने से क्या सचमुच उनको दया आती है? कितनी दयनीय स्थिति में हैं किरणमयी की। जब वह उपेन्द्र को अन्तिम समय में देखती है, तो कहती हैं –

> मेरे आंचल में काली माई का प्रसाद बंधा हुआ है देवर, जरा खाओगे? आह ! कितना रोई, कितनी तुम्हारे लिए प्रार्थनाएं की, कहा- 'माँ काली! - देवर का रोग दूर कर मुझे दे दो। मेरे जीते रहने सें क्या लाभ? क्यों देवर, मेरी यह बात सच नहीं है? (चट्टोपाध्याय 2014:287)

कितना करुण अंत है इस प्रेम का। ऐसे प्रेम का वर्णन हमारे शरत बाबू करते थे, जिससे रोंगटे खड़े हो जाये। जब 'चरित्रहीन' उपन्यास प्रकाशित हुआ था, तो अभिभावक लोग अपने बच्चों

को बार-बार पढ़ने से मना करते थे, लेकिन यह तो प्रकृति का नियम है कि जिसका इतना निषेध होता है, उसी को पढ़ने के लिए सब लालायित रहते है ।

शरतचन्द्र तो दाता थे। उनकी पुस्तकों को पढ़कर न जाने कितनी युवतियों का जीवन गलत मार्ग पर जाने से बच गया है। वह जो भी लिखते थे उसके पीछे अपना कर्तव्य, उद्देश्य और एक न्याय की भावना को अवश्य सोच लिया करते थे। वह कहते थे कि 'चरित्रहीन' की किरणमयी से हजारों स्त्रियों का उद्धार होगा। समाज मेरी इस बात को स्वीकारे या नहीं मुझे इसकी चिंता नहीं है। उनके सम्बंध में सोमा बंधोपाध्याय जी का कथन कुछ इस प्रकार है –

> इसी प्रकार शरतचन्द्र की रचनाओं में भी ग्रामीण बंगाल के शोषित एवं वंचित नर-नारियों का मार्मिक चित्रण मिलता हैं। उनके उपन्यास रक्त-मांस से बने हुए, दोष और गुणों से भरे हुए अत्यन्त साधारण,अति तुच्छ मानवों की आशा-निराशा, व्यथा-वेदना, सपने देखने और उन सपनों के टूटने की कहानी हैं। (बंधोपाध्याय 2015:21)

उनमें एक और खास बात यह थी कि वे कभी यशप्राप्ति के लिए नहीं लिखना चाहते थे । उनका लक्ष्य वास्तव में ही समाज के कुप्रथाओं से लड़ना था। बहुत से साहित्यकारों ने तो उन्हें निरीश्वरवादी बताया हैं। क्योंकि वह हिन्दू धर्म में विराजित रूढ़ियों पर भी कुठाराघात करने से नहीं चुकते हैं ।एक दिन उन्होंने स्वयं कहा था –

> मेरे गले में तुलसी की माला देखकर अचरज होता हैं। जो व्यक्ति स्वयं दुनीर्तिपरायण साहित्य की सृष्टि करता है, वह तुलसी की माला पहनेगा, यह कोई नहीं सोच सकता । (प्रभाकर 2016:140)

शरतचन्द्र का व्यक्तित्व बहुत साधारण होने पर भी आकर्षक था। वह किसी भी समस्या की जड़ तक जाते हैं। उनके अनुसार सम्पूर्ण नारीत्व जो कि दया, करुणा, ममता, सेवा, परोपकार, त्याग का समग्र रूप हैं, उनकी दृष्टि में सतीत्व से कही अधिक महान है। ऐसी स्थापना परम्परावादी नैतिकता के पक्षधर लोगों के गले से भले ही नीचे न उतरे, पर सोचने पर अवश्य मजबूर करती है।

मानव प्रेम ही नहीं बल्कि प्राणीमात्र से स्नेह जो शरतचन्द्र के पशु-पक्षी, प्रेम में स्पष्ट झलकता हैं, जो उन्हें रचनाकारों की एक अगल ही पंक्ति में खड़ा करता है। बंगला के साहित्यकार डॉ. शुद्धसत्त वसू के कथन को हम अपने समर्थन में ले सकते हैं –

> शरतचन्द्र के उपन्यासो में परित्यक्ता अथवा समाज से निषिद्ध नारियों की भीड़ की कमी नहीं अतएव कुछ अधिकता ही हैं। पुरुष शासित हिन्दूसमाज में विधवा और पतिताओं के लिए जो अनुशासन और शासन की प्रथा प्रचलित रही हैं। इन्होंने नारियों को समाज के अन्तिम छोर में धकेल दिया हैं। (बसु 2019:119)

शरतचन्द्र की सावित्री और किरणमयी केवल 'चरित्रहीन' उपन्यास की ही सावित्री और किरणमयी नहीं बल्कि वास्तविक जीवन की सावित्री और किरणमयी हैं। ऐसी कई सावित्री और किरणमयी समाज में क्रीड़ा कर रही हैं। उन्होंने उनको केवल उपन्यास तक ही सीमित नहीं रखा बल्कि वास्तविक जीवन से जोड़ कर उसका विस्तार कर दिया है। कहने का आशय है वह अपनी रचनाओं में केवल समस्या ही नहीं बल्कि समाधान भी प्रस्तुत कर देते हैं। इस उपन्यास में एक स्त्री किरणमयी जो परिस्थिति के वश में आकर अपना सबकुछ तबाह कर देती हैं, वहीं दूसरी सावित्री जिसके पास केवल त्याग की भावना होने के कारण सभी को अपना बना लेती है। अब शरतबाबू के पाठक जब इस उपन्यास को पढेंगे तो वह स्वयं ही निर्णय ले सकेंगे कि उन्हें किरणमयी बनना है या सावित्री ।

जिस प्रकार माताएँ अपनी सामान्य शिशु की अपेक्षा अपनी असामान्य शिशु से अधिक स्नेह करती हैं, उसी प्रकार शायद शरत बाबू ने भी समाज के उपेक्षित पात्रों से अधिक लगाव महसूस किया । उन्होंने स्त्री के मनोभावों का आकलन हर दृष्टिकोण से किया हैं। । 'चरित्रहीन' उपन्यास में उन्होंने नारी का दोहरा संघर्ष दिखाया हैं। शरतचन्द्र की नारियाँ हर स्थिति और परिस्थिति में सशक्त हैं । इस रूढ़िवादी समाज के लिए स्त्रियों को बहुत बड़ा त्याग करना पड़ता है। उपन्यास की सावित्री के मन में सतीश के प्रति प्रेम भाव होने के बाद भी वह उसे समाज के डर से उजागर नहीं कर पाती हैं। सतीश के बहुत प्रयत्न के बाद भी इस प्रेम को पूर्णता नहीं मिल पाता हैं। अंत में वह स्वयं अपने प्यार को सरोजिनी के साथ वैवाहिक बन्धन में बांध देती हैं। यह दृश्य अत्यंत करुण है

क्योंकि यह आखिरी अमानत थी, उसकी जिससे वह बहुत निस्वार्थ भाव से प्रेम करती थी। इस उपन्यास की अन्तिम परिणति कुछ इस प्रकार है कि पाठक वर्ग करुणा से द्रवीभूत हो ही जाते हैं। शरत बाबू स्त्री को केवल सौन्दर्य का साधन नहीं बल्कि उसे करुणा और ममत्व की प्रतिमूर्ति समझते थे।

निष्कर्ष :

शरतचंद्र ने दुराचारिणी कही जाने वाली स्त्रियों को सम्मान दिया है। यही कारण है कि जब पाठक उनके उपन्यासों को पढ़ता हैं तो यह सोचने के लिए विवश हो जाता है कि शरत बाबू किस प्रकार का समाज चाहते थे। वे स्त्रियों को सुधारने के लिए बहुत कुछ करना चाहते थे । यह तथ्य उनके साहित्य को जानने से प्रकट होता है। इसी एक बात को लेकर वे जीवन भर लड़ते रहे कि नारी को समाज में वैसी ही प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए जैसा की समाज में पुरुषों को दी जाती हैं। और वर्तमान समय में यही देखने को मिल रहा है कि स्त्रियाँ किसी भी क्षेत्र में पुरुषों से पीछे नहीं हैं।

अतः कह सकते हैं विश्व के महिमामंडित साहित्यकार शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय ने कुत्सित विकृतियों के भीतर भी मानवता की तलाश की थी। यही उनकी साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है। शरतचन्द्र अत्यंत संवेदनशील व्यक्ति थे, जिन्होनें उपेक्षित और बदनाम स्त्रियों में मानवीयता खोजकर उन्हें विश्व साहित्य में अमर कर दिया ।

ग्रंथ-सूची :

चट्टोपाध्याय, शरतचंद्र. चरित्रहीन . नई दिल्ली : पी. एम. पब्लिकेशन्स , 2014 .

चतुर्वेदी, जगदीश्वर, ed. स्त्रीवादी परिप्रेक्ष में 'स्त्री अस्मिता' . कोलकाता : आनंद प्रकाशन , 2004 .

—. स्त्रीवादी साहित्य विमर्श . नई दिल्ली : अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स , 2018 .

प्रभाकर, विष्णु. आवारा मसीहा . दिल्ली : राजपाल एंड संज , 2016 .

बंधोपाध्याय, सोमा. पूर्व की अपूर्व दस्तकें . इलाहाबाद : साहित्य भंडार , 2015 .

बसु, डॉ. शुद्धसत्त. शरतचंद्र चट्टोपाध्याय श्रीकांत (प्रथम पर्व). कोलकाता : प्रज्ञाविकास , 2003 .

सेनगुप्त, डॉ. सुबोधचंद्र, ed. शरत रचनावली . कोलकाता : श्रीसरस्वती प्रेस लिमिटेड , 1975 .

****

संपर्क-सूत्र :

सोनिया कुमारी प्रसाद

9073864554

e-mail-prasadsonia1120@gmail.com